दो शब्द

मार्क्स का प्रधान क्षेत्र था समाज, और पात्र थे मानव-प्राणी। उनके युग के मानव इतिहास बनाना चाहते थे पर बना नहीं पाते थे। समाज को किस तरह वे बदल पाएँ यही उनके अध्ययन और लेखों का प्रधान लक्ष्य था। जर्मनी, बेल्जियम और फ्रांस से निकाले जाकर, दूर लंदन के एक छोटे से घर में निर्वासित का जीवन व्यतीत करते हुए वे इसी उधेड़ बुन में लगे रहे। दर्शन पर कलम उठाते ही पहला वाक्य उन्होंने यही कहा :

"अबतक दार्शनिक यह समझाते रहे कि संसार कैसा है, मेरा काम है यह दिखाना कि संसार कैसे बदलता है। संसार के परिवर्त्तन के नियमों को समझने का अर्थ है संसार को समझना।"

ऐसी क्रांतिकारी विचार-धारा पर हर तरफ से आक्रमण होना स्वाभाविक था। किसी ने कहा इनका अर्थशास्त्र गलत है, किसी ने कहा मानव स्वभाव इनके सिद्धान्तों के विरुद्ध है, किसीने धर्म, किसीने दर्शन को इनके विरुद्ध प्रयोग किया। इन आक्रमणों के उत्तर देने में ही अर्थ-शास्त्र, समाज शास्त्र, दर्शन शास्त्र के क्षेत्रों में इन्हें जाना पड़ा। इस कारण इनके लिखित विचारों पर इस पद्धति की छाप है। मार्क्स ने विश्व के समझाने वाले दर्शन पद्धतियों के तर्ज पर न कभी लिखने का प्रयत्न किया और न इस अर्थ में मार्क्स-दर्शन ऐसी कोई चीज ही है। पदार्थ, जीवन और चेतना एक

ही विश्व राग के भिन्न भिन्न स्वर हैं। हाँ, इनका अध्ययन अलग-अलग होता है। परन्तु युग ज्ञान की सीमा, ज्ञात और अज्ञात ऐसे दो क्षेत्रों में ज्ञान को बाँट देती है। ज्ञात के परे के विश्व को, अनुभव और तर्क के आधार पर खड़ी कल्पना के द्वारा ही समझा जा सकता है। ज्ञान के क्षेत्र का फैलाव, अज्ञात को दूर खिसकाता जाता है और कल्पना-क्षेत्र संकुचित होकर प्रतिदिन मजबूत आधारों को अपनाता है। इस कारण पुराने अर्थ में दर्शन की आवश्यकता भी कम पड़ती जाती है।

परन्तु मार्क्स को कोई अपनी पद्धति नहीं। हाँ उनकी प्रणाली है—दिशा सूचना है, जिधर जाने से हम अपने लक्ष्य की ओर जाने वाले मार्ग को पकड़ सकते हैं। सही पथ की मुसाफिरी का दावा ही मार्क्स का दर्शन करता है, मंजिल की व्याख्या का नहीं।

ज्ञान की चिर अतृप्त प्यास लेकर घूमने वाला मानव प्राणी इससे ज्यादा की आशा ही क्या कर सकता है?

लहेरियासराय

रामनन्दन मिश्र

१ली जून १९५२

विषय सूची

मार्क्स का दर्शन

गति

सभी दार्शनिक संसार कैसा है, इसे समझने और समझाने में लगे रहे। मार्क्स ने यह समझने का प्रयत्न किया कि संसार कैसे बदलता है और यही उसने अपने जमाने की जनता को समझाया।

जमींदार चाहता है कि चिरकाल तक किसान उसे मालगुजारी के रूप में अपनी कमाई देते रहें। पूंजीपति चाहता है कि सदा मजदूर उसके हाथ अपना श्रम बेचते रहें, ये ही समाज के सनातन नियम बने रहें। किसान और मजदूर भी कई पीढ़ी गुलामी और शोषण में रहने के बाद समझने लगे कि ऐसा ही किसी अदृश्य विधाता का विधान है।

फिर गरीबी मिटे कैसे ?

कुछ धनी और मध्यम वर्गीय भावुक अपनी दयालुता आंसू बहाकर या पैसे बाटकर दिखा देते हैं, क्रांति की तैयारी नहीं करते। कोई दूसरा भी क्यों करे ? चिरनियमों में आबद्ध ससार और समाज का आमूल परिवर्तन करने का प्रयत्न क्यों किया जाय ? विधाता के विधान से सर टकराना मूर्खता नहीं तो क्या ?

ऐसे ही विचारों के माया जाल मे क्रांतिधारा को बांध धनी वर्ग अपनी सत्ता को सुरक्षित रख रहा था।

मार्क्स तो क्रांतिकारी था। उसने देखा, इस माया जाल को काटे बिना एक कदम आगे बढना सम्भव नहीं।

उसने कहा, "ससार एक बहती धारा है, इसमें कुछ भी चिरस्थायी नहीं है। संसार, समाज, समाज के नियम सब एक बहती धारा में हैं। संसार को समझने का अर्थ है ससार के बदलने का नियम समझना।"

जमींदारी प्रथा सत्य नहीं है। सत्य है समाज के रंग मंच पर जमींदारी प्रथा का आना, फिर मिट जाना। कैसे आयी और फिर कैसे चली जायगी इसे समझाना और समझना ही समाजविज्ञान के ज्ञाता का काम है।

आज का विज्ञान जोर जोर से पुकार कर कह रहा है कि ससार की सभी चीजें गतिशील हैं। सारा ससार ही गतियों का खेल है।

"वस्तु का कम्पन जब प्रति सेकेन्ड १६ बार जाता है तब हमें

शब्द की अनुभूति होती है और ४८०० बार प्रति सेकेन्ड तक हम सुन सकते हैं। उसके बाद हर्टजेन तरंग पैदा होती है। इसका उपयोग रेडियो वगैरह में होता है। गति आगे बढ़े तो फिर हमें उसका भाप गर्मी के रूप में होती है और आगे बढ़ने पर लाल आदि रंगों के रूप में। इस तरह यह प्रमाणित हो जाता है कि भिन्न-भिन्न गतियों को हमारी भिन्न भिन्न इन्द्रिया पकड़ता है।' (सम्पूर्णानन्द)

गति क्या है ? प्रत्येक बिन्दु पर होना, न होना तथा होना न होना की उलझन को सुलझाते हुए चले जाना। ऐसा ही ससार है।

एँगेल्स ने कहा—"पदार्थ गति के रूप में रहता है'।

(२) एकता

प्राचीनों ने जितना भी कहा, सब ही क्या गलत थे ? नहीं। जैसे ले लें संसार की विभिन्नता को। प्राचीन युग में ही प्रश्न उठा था, क्या संसार जैसा विभिन्न रूपों का दीखता है, वैसा मूल में ही है ? एक ही प्रकार की मिट्टी, हवा, पानी और गर्मी को आश्रय कर तरह तरह के पेड़ पौधे बनते रहते हैं। इन्हीं का विभिन्न रूप परिवर्तन तो सारा संसार है। तुलसी दास ने कहा—

"छिति, जल, पावक, गगन समीरा
पञ्च रचित यह मनुज शरीरा"

फिर ख्याल उठा, ये पांच भी क्या एक ही के परिवर्तित रूप नहीं हैं ? पर इसे कैसे प्रमाणित किया जाय ? विज्ञान का विकास इतना हुआ

नहीं था कि जल और मिट्टी का विश्लेषण कर इनकी आन्तरिक एकता को वह समझा सकता। फिर भी अद्वैत की भावना—यानी एक ही तत्व से सारा संसार बना है—जोर पकड़ती गई।

मार्क्स ने इसे पूरी तरह माना ही नहीं बल्कि इसे और दृढ़ किया। विज्ञान डंके की चोट में इसे घोषित कर रहा था। विज्ञान ने पहले तो संसार को दो हिस्सों में विभाजित किया—पदार्थ और शक्ति। पदार्थ भी तरह-तरह के और शक्तियां भी विभिन्न रूपों की। परमाणु के आविष्कार ने ऐसा इकाई दी, जिसमें पदार्थों की विभिन्नता का प्रश्न हल हो गया। इसी तरह विद्युत शक्तियों को चुम्बकीय शक्ति में और चुम्बकीय शक्ति को विद्युत शक्ति में परिवर्तन की पद्धति वैज्ञानिकों ने ढूंढ निकाली, तब शक्तियों की एकता भी दृढ़ भूमि पर स्थापित हो गया।

अब रह गये पदार्थ और शक्ति।

इनकी एकता विद्युत किरणों के आविष्कार से निर्विवाद प्रमाणित हो गई। पदार्थों के आधार परमाणु को तोड़ने से मिले विद्युत् कण। इन्हीं कणों से सभी परमाणु बने हैं और परमाणुओं से पदार्थ।

साथ साथ ये कण शक्तियों के भी आधार हैं। वैज्ञानिकों में आज इस विषय में बहुत बड़ा मतभेद है कि इन्हें पदार्थ कहा जाय या शक्ति। पर जो भी कहा जाय, पदार्थ और शक्ति की एकता स्थापित हो गई।

'पर इतने से प्रश्न पूरा पूरा हल नहीं हुआ। पदार्थ और शक्ति के अलावे भी संसार में एक वस्तु है जीवन, और जीवन के साथ लगा है

चेतना । प्रश्न है, पदार्थ और चेतना का क्या सम्बन्ध है ?

चेतना पदार्थ से अलग होकर कहीं नहीं दिखाई पड़ती । पदार्थ और चेतना दोनों बड़ी गहराई से घुले मिले हैं । मस्तिष्क रूपी अत्यन्त श्रेष्ठ भौतिक यन्त्र को आश्रय कर चेतना का चरम विकास संविद्, चिन्तन और अनुभवों में होता है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं । पर दोनो का ठीक कैसा सम्बन्ध है उसका पता अभी तक विज्ञान नहीं लगा पाया है । जीवन, अजीवन से पोषण लेता है और अजीवन जीवन का आश्रय कर वेदना सयुत होता है । भात शरीर में जा, रक्त मांस के रूप में परिवर्तित हो, सुख दुख की वेदना अनुभव करने लगता है । आनेवाले वैज्ञानिकों के सामने इस गुत्थी को सुलझाना सबसे बड़ा काम है ।

(३) भौतिकवाद

इस बीच में दार्शनिकों ने कल्पना के घोड़े दौड़ाए । किसी ने कहा चेतन ही असल है । फिर यह सारा संसार क्या है ? उसी चेतन का रहस्यमय शक्ति का खिलवाड़ । उस अदृश्य शक्ति को ढूंढना, किसी तरह से उसे खुश करना, रह गया मानव का प्रधान कार्य्य ।

तरह-तरह के दर्शन, सम्प्रदाय और पथ उठ खड़े हुए । अनजान शक्तियों, देवी-देवताओं और भगवानों के जाल में कस गया मानव का अङ्ग प्रत्यङ्ग ।

इन देवताओं और सम्प्रदायों के बोझ से मनुष्य का दम घुटने

(क) ज्ञान का स्वरूप क्या है और ज्ञान होता कैसे है ?

(ख) भौतिक तत्त्व का मूल रूप क्या है ?

(५) ज्ञान-मीमांसा

संसार से सम्बन्ध इन्द्रियों के द्वारा ही होता है। संसार का ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान और चिन्तन पर आश्रित है। अब प्रश्न होता है, हमें जो ज्ञान होता है वह है किसका ? भौतिकवादी मानते हैं कि बाहर कुछ है, जिसकी छाया इन्द्रियों पर पड़ती है। कुछ अध्यात्मवादी कहते हैं कि बाह्य जगत मानने का कोई आधार नहीं। इन्द्रियों के द्वारा जिसका ज्ञान होता है, वह भावना मात्र है। इन दोनों के बीच बहुत से सन्देहवादी हैं, जो जगत को न वास्तव मानते हैं और न अनुभूतियों का समूह।

यूरोप में विशप बर्कले और भारतवर्ष में विज्ञानवादी मानते रहे हैं कि हम केवल अपनी अनुभूतियों का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। एक पेड़ की जो छाया हमारे दिमाग पर पड़ता है, उस आन्तरिक छाया से भिन्न रूप कोई पेड़ है ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। इस दृष्टि से यह सारा जगत हमारा मनोराज्य है। लोगों ने एक प्रश्न उठाया कि यदि सब मनोराज्य ही है तो एक बिल्ला को हम छोटा-बड़ा शकल में क्यों देखते हैं ? श्री सम्पूर्णानन्द जी ने अपने ग्रन्थ "जीवन और दर्शन" में इसका जवाब देते हुए लिखा है, "ईश्वर के अन्तःकरण में बिल्ली का विचार उत्पन्न हुआ, छोटे से बड़ा हुआ। हमको इसका प्रतिबिम्ब दोनों बार

मिला। इसको छोटी और बड़ी बिल्ली की अनुभूति हुई।"

इस तरह की विचारधारा कितनी लचर है साफ मालूम हो रहो है।

यहा हमें यह जान लेना चाहिए कि भारतीय दर्शन में बितंडावादी और शून्यवादी को छोड़ किसी ने जगत की सत्ता को इनकार नहीं किया। सांख्य, न्याय, मीमासा, वैशेषिक चारों वास्तववादी हैं। वेदान्त ने अनिर्वचनीय कह कर ही अपना पल्ला छुड़ाया है। क्योंकि इनका कहना है कि यदि सासारिक सत्ता नहीं मानी जाय तो फिर किसी कार्य्य का होना सम्भव नहीं।

न्यायदर्शनकार "प्रवृत्ति सामर्थ्य" और "अर्थ क्रिया कारित्वम्"* के आधार पर इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को बाह्य जगत के ज्ञान का प्रमाण मानते हैं। न्याय का कहना है कि द्रष्टा की इच्छा और भावना से स्वतंत्र बाह्य जगत की भी सत्ता है। व्यक्ति इस विश्व में अनासक्त द्रष्टा मात्र नहीं है, वह ससार को केवल देखने के लिए नहीं देखता। वह जगत से इच्छानुकूल परिणाम प्राप्त करना चाहता है। ये इच्छायें ही उसे कार्य्य में प्रेरित करती हैं। जिन वस्तुओं पर कार्य्य करने से जैसा परिणाम वह चाहता है वैसा परिणाम निकलना, उन वस्तुओं के ज्ञान के सही होने का प्रमाण है।

"अर्थ क्रिया कारित्वम्" और "प्रवृत्तिसामर्थ्य" ज्ञान की वास्तविकता के प्रमाण हैं—इसे बहुत जोरा से एगेल्स और लेनिन ने माना है। हमारे ज्ञान के पीछे हमारी अनुभूतियों से भिन्न प्रकार की वास्तविकता है, इसे इन्कार करना सम्भव नहीं।

---

* इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकम्।

लगा। पृथ्वी गोल है—यह कहने के लिए ईसाई धर्म के ठेकेदारों ने विचारकों को जिन्दा जला दिया।

फ्रान्सीसी क्रान्ति के अग्रदूत भौतिकवादी दार्शनिकों ने १७वीं सदी में ललकारा इन सम्प्रदायों और देवताओं को कि वे अपने अस्तित्व का प्रमाण दें। इन कल्पित लौह चट्टानों के बोझ में मूक हुए करोड़ों मानवप्राण।

इन भौतिकवादियों ने कहा, संसार केवल भौतिक तत्वमय है और है वस्तु तथा उसके नियमों का जाल। जैसे स्तन से दूध चूता है, उसी तरह मस्तिष्क से चेतना नामक भौतिक पदार्थ चूता रहता है। चाभी भरी हुई घड़ी की तरह सारा विश्व नियमों की जंजीर में जकड़ा चलता रहता है। यह हुआ दूसरा परला सिरा।

इस प्रकार के यान्त्रिक भौतिकवाद को मानने से न इतिहास की व्याख्या होती है, न बहुरङ्गीन मानव समाज के जीवन की। प्रतिक्षण जारी रहने वाले विकास-क्रम को भी ऐसा भौतिकवाद नहीं समझा सकता।

विकास केवल देश में नहीं होता बल्कि काल में भी। इसलिए हमें मानना पड़ता है कि वस्तुओं के अन्तर में एक ऐसा द्वन्द्व है जो सतत् उन्हें परिवर्तन की ओर प्रेरित करता रहता है। इसलिए ही मार्क्स का दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

(४) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

द्वन्द्वात्मक गति को व्यवहार में ढूंढते रहना हमारा काम है। मार्क्स ने कुछ मोटे मोटे नियम दिशा-सूचक रूप से हमारे सामने रखे।

(क) संख्या से गुण-परिवर्तन

किसी वस्तु या शक्ति में विशेष मात्रा या ज्यादा संख्या होने से ही *गुण-परिवर्तन हो जाता है। जैसे गर्मी एक हद से ज्यादा हो जाय* तो पानी भाप में बदल जाता है।

क्रान्ति की आग सीमा को पार करती है, तो समाज का रूप बदल जाता है। इसलिए ही प्लेखेनोव ने कहा कि समाज में जैसा विकास स्वाभाविक है वैसा क्रान्ति भी।

(ख) अभाव का अभाव

जो है, उसे कुछ शक्तियाँ मिटाना चाहती है, दूसरी शक्तियाँ मिटाने वाली शक्तियों को मिटाना चाहती हैं। इन दोनों के टक्कर से जो है, वह रह जाता है। यही है जीवन की कुञ्जी।

(ग) विरोधी की एकता

वस्तुओं में अपने अन्तर में विरोधों को लेकर चलने की सामर्थ्य है। रूप सदा बदलता नहीं। समाज भी द्वन्द्वों को गर्भ में लेकर मोटे तौर पर अपने प्रधान स्वरूप को कायम रखता है।

पर मार्क्सवाद को समझने के लिए दो बातों को समझना जरूरी है।

(क) ज्ञान का स्वरूप क्या है और ज्ञान होता कैसे है ?

(ख) भौतिक तत्त्व का मूल रूप क्या है ?

(५) ज्ञान-मीमांसा

संसार से सम्बन्ध इन्द्रियों के द्वारा ही होता है। संसार का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान और चिन्तन पर आश्रित है। अब प्रश्न होता है, हमें जो ज्ञान होता है वह है किसका ? भौतिकवादी मानते हैं कि बाहर कुछ है, जिसकी छाया इन्द्रियों पर पड़ती है। कुछ अध्यात्मवादी कहते हैं कि बाह्य जगत मानने का कोई आधार नहीं। इन्द्रियों के द्वारा जिसका ज्ञान होता है, वह भावना मात्र है। इन दोनों के बीच बहुत से सन्देहवादी हैं, जो जगत को न वास्तव मानते हैं और न अनुभूतियों का समूह।

यूरोप में विशप बर्कले और भारतवर्ष में विज्ञानवादी मानते रहे हैं कि हमें केवल अपनी अनुभूतियों का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। एक पेड़ की जो छाया हमारे दिमाग पर पड़ती है, उस आन्तरिक छाया से भिन्न रूप कोई पेड़ है ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। इस दृष्टि से यह सारा जगत हमारा मनोराज्य है। लोगों ने एक प्रश्न उठाया कि यदि सब मनोराज्य ही है तो एक बिल्ली को हम छोटी-बड़ी शक्ल में क्यों देखते हैं ? श्री सम्पूर्णानन्द जी ने अपने ग्रन्थ "जीवन और दर्शन' में इसका जवाब देते हुए लिखा है, "ईश्वर के अन्तःकरण में बिल्ली का विचार उत्पन्न हुआ, छोटे से बड़ा हुआ। हमको इसका प्रतिबिम्ब दोनों बार

मिला। हमको छोटी और बड़ी बिल्ली की अनुभूति हुई।"

इस तरह की विचारधारा कितनी लचर है साफ मालूम हो रहा है।

यहा हमें यह जान लेना चाहिए कि भारतीय दर्शन में वितंडावादी और शून्यवादी को छोड़ किसी ने जगत की सत्ता को इनकार नहीं किया। साख्य, न्याय, मीमासा, वैशेषिक चारों वास्तववादी हें। वेदान्त ने अनिर्वचनीय कह कर ही अपना पल्ला छुड़ाया है। क्योंकि इनका कहना है कि यदि सासारिक सत्ता नहीं मानी जाय तो फिर किसी कार्य्य का होना सम्भव नहीं।

न्यायदर्शनकार "प्रवृत्ति सामर्थ्य" और "अर्थ क्रिया कारित्वम्" के आधार पर इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को बाह्य जगत के ज्ञान का प्रमाण मानते हें। न्याय का कहना है कि द्रष्टा की इच्छा और भावना से स्वतंत्र बाह्य जगत की भी सत्ता है। क्योंकि इस विश्व में अनासक्त द्रष्टा मात्र नहीं है, वह संसार को केवल देखने के लिए नहीं देखता। वह जगत से इच्छानुकूल परिणाम प्राप्त करना चाहता है। ये इच्छायें ही उसे कार्य्य में प्रेरित करती हें। जिन वस्तुओं पर कार्य्य करने से जैसा परिणाम वह चाहता है वैसा परिणाम निकलना, उन वस्तुओं के ज्ञान के सही होने का प्रमाण है।

"अर्थ क्रिया कारित्वम्" और "प्रवृत्तिसामर्थ्य" ज्ञान की वास्तविकता के प्रमाण हैं—इसे बहुत जोरों से एंगेल्स और लेनिन ने माना है। हमारे ज्ञान के पीछे हमारी अनुभूतियों से भिन्न प्रकार की वास्तविकता है, इसे इन्कार करना सम्भव नहीं।

---

* इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

(घ) मूल तत्त्व से दृश्यमान जगत का शृंखलाबद्ध सम्बन्ध है।

(ङ) उस मूल तत्त्व का रूप और स्वभाव निर्धारित करना वैज्ञानिकों का काम है। पर उसका दार्शनिक नाम भौतिक पदार्थ है।

व्यक्ति और परिस्थिति

पूरा मनुष्य

गरीबी, क्षोभ और वेदना समाज में बढ़ती जा रही है। समाज का रेशा रेशा परिवर्तन पुकार रहा है। फिर भी क्रान्ति क्यों नहीं हो रही है! गरीब, गरीब के कन्धे से कन्धा मिला शोषकों से लड़ने के बदले धर्म और राष्ट्रीयता के नाम पर एक दूसरे का गला क्यों काट रहा है! "सामाजिक वातावरण से (जिसमें आर्थिक प्रधान है) मनुष्य की भावना निर्धारित होती है। —मार्क्स के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार आज विशाल जनसमूह को क्रान्ति के मैदान में रहना चाहिए था। पर ऐसा नहीं हो रहा है। क्या मार्क्स का सिद्धान्त गलत था? नहीं। मार्क्स ने ही "फायर बाख" पर टिप्पणी लिखते हुए १८४५ में लिखा था—"अब तक के सभी भौतिकवाद का प्रधान दोष यही रहा है कि उन्होंने

लेकिन यह बात भूलना नहीं चाहिए कि वास्तव अपने नग्न रूप में कभी हमें पकड़ाई नहीं देता है। जिन आधारों का आश्रय लेकर हम संसार को जानते हैं, वे अपना रंग हमारे ज्ञान के ऊपर डाल देते हैं। इसलिए ऐंगिल्स ने कहा था "हमारा ज्ञान असीम भी है और सामित भी। अपने स्वभाव में असीम और प्रकटीकरण में सामित। इसलिए हमारा ज्ञान सत्य के पास को छूता हुआ निकल जाता है। उसे कभी पकड़ नहीं पाता।"

(६) संसार का मूल तत्त्व

संसार का मूल तत्त्व क्या और कैसा है, इस प्रश्न का पूरा उत्तर विज्ञान नहीं दे सका है। पर तर्क और विचार हमें यह साफ कहते हैं कि जगत का मूल तत्त्व इस जगत से भिन्न जाति का पदार्थ नहीं हो सकता है तथा भौतिक जगत से अलग कोई दूसरा दुनियाँ नहीं हो सकती, अन्यथा इस विश्व की एकता टूट जायगी। इसलिये मूल तत्त्व जैसा भी हो वह इस जगत की विस्तृत धारा ही में कहा है।

इस मूल तत्त्व को जैसा भी मानें, उसमें इस दृश्यमान जगत् का विकास, हमें शृंखला-बद्ध दिखाना होगा। इस बड़ी कसौटी को कोई अध्यात्मवादी दर्शन पूरा नहीं कर सका है।

आत्म-जगत् को अनात्म-जगत् से भिन्न जाति का मानने के कारण ही शंकर और हीगेल, खुद पैदा की हुई खाई को पार नहीं कर सके; किसी जगह एक रहस्यमय पर्दा रह गया। "को अद्धा वेद, को इह अजानत' कह कर शंकर और वेद दोनों ने पल्ला छुड़ा लिया।

आज विज्ञान, संसार के जिस अन्तिम मूल तत्त्व की ओर जा रहा है, उस विद्युत कण का रूप और स्वभाव निश्चित नहीं हो पाया है। परन्तु उस विद्युत कण से प्रस्तर-खण्ड तक के बनने की शृंखला को वह बता सकता है। इसलिए आज उसे ही हम संसार का मूल तत्त्व मानते हैं। संसार का मूल तत्त्व, पंच तत्त्व माना जाय अथवा परमाणु, अथवा विद्युत कण; इस से मार्क्स का मौलिक विचार धारा पर कोई असर नहीं पड़ता। ज्ञान की विकास धारा अपना प्रगति के पथ में मंजिलों को छोड़ती हुई जिस जगह पर जब ठहरेगी, मार्क्सवादी सर झुका कर उसे ही संसार का मूल-तत्त्व मानेगा। ज्ञान को, विकास की धारा में मानकर, स्वयं मार्क्स ने अपने लिए भी चिर-सत्यता के दावे को सदा के लिए छोड़ दिया। इसी लिये लेनिन ने कहा था—मार्क्सवाद में प्रधान है पद्धति, सत्य को ढूंढ़ने का तरीका। मार्क्स का ज्ञान अपने युग का सीमाओं से उतना ही सीमित था जितना शंकर अथवा हेगेल के ज्ञान अपने युग की सीमाओं में।

इसीलिये लेनिन ने कहा था कि मूल तत्त्व में ठोसपन रहे या न रहे, वह स्थान घेरे या न घेरे, इससे दार्शनिक भौतिकवाद का कुछ बनता बिगड़ता नहीं। उसका इतना ही दावा है कि :—

(क) हमारी अनुभूतियों से परे वास्तविकता है, इसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है।

(ख) जगत में मूलतः एकता है।

(ग) उस एकता से अनेकता स्वयं प्रेरित पैदा होती है।

प्रेरणा का अध्ययन उसके बाह्य प्रेरक उपकरणों के आधार पर ही किया है। उनके पीछे मनुष्य के अन्तःकरण की वृत्तियों का जो स्थान है, स्वयं कर्त्ता की भावनाओं का जो प्रभाव है उस पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया।"

परन्तु स्वयं मार्क्स और एँगिल्स अपने लेखों में इस पक्ष के उचित स्थान को दिखा नहीं सके। एँगिल्स ने मरने के पहले अपने एक खत में कबूल किया कि—"मार्क्स और मैं अंशतः नवयुवकों में इस भावना के फैलने का जिम्मेदार हूँ कि आर्थिक पक्ष ही सब कुछ है। एक तो विरोधियों के आक्रमणों के जवाब देने में हम इस पर जरूरत से ज्यादा जोर डालना पड़ा दूसरे हमें न समय मिला न अवसर कि दूसरे पक्ष को भी पूरी तौर पर रख सकें।" इसका नतीजा यह हुआ कि आर्थिक पहलू ही सब कुछ है, ऐसा अर्द्ध सत्य पूर्ण सत्य की तरह समाजवादी साहित्य में प्रचलित हो गया। कम्यूनिस्टों की थीसिसों पर आप गौर करें तो पन्ने के पन्ने रंगे मिलेंगे आर्थिक परिस्थिति के विश्लेषण में। पर क्रांति के वाहक मानव समुदाय की प्रेरणाओं का विश्लेषण शायद ही कहीं मिले। इसी कारण वैज्ञानिक समाजवाद व्यवहार में अवैज्ञानिक रहा।

सामाजिक प्रभाव को इन्कार कर जिन्होंने इतिहास को व्यक्तियों का चिद्विलास मात्र बना दिया उन्होंने जैसा दोष किया वैसा ही दोष मानव अन्तस्तल के प्रभाव को इन्कार करने वालों ने किया। क्रियात्मक प्रेरक शक्ति परिस्थिति का छायामात्र नहीं है, बल्कि उन्हें बदलने की प्रेरणा है। एँगल्स ने कहा है.—'एक ईंट में समाज का इतिहास

प्रकृति के इतिहास से मौलिक रूप में भिन्न है। समाज के इतिहास में सभी पात्र चेतना युक्त हैं। वे एक निश्चित लक्ष्य की ओर विचार पूर्वक भावना के साथ जाते हैं। बाह्य परिस्थिति से मनुष्य प्रभावित होता है, पर क्यों, इसलिए कि उनमें उसकी वासनाओं की तृप्ति की सामर्थ्य है। मनुष्य के अन्तर की कामनाएँ बाह्य संसार की वस्तुओं पर विशेष मूल्यों को डालती हैं। 'आम' के फल में अपना एक गुण है पर गुण की विशेष-ग्राहकता मनुष्य के जाभ का बनावट और मन के तरंगों पर भी निर्भर करती है। जो मछली नहीं खाता उसके निकट मछली का आस्वाद शून्य है।

परन्तु बाह्य वस्तुओं के गुणों में तृप्ति सामर्थ्य है ऐसा इन्कार कर आदर्शवादी दार्शनिकों ने अपने दर्शन को अवास्तविक बना दिया। न्याय ने बहुत प्राचीन काल म ही इसका जवाब दे दिया था। सुख या भोग निर्भर करता है, बाह्य वस्तुओं और कर्त्ताओं, दोनों के गुणों पर। दोनों में किसी की सत्ता को इन्कार करने से हम अर्द्ध सत्य का लकी म फँस जाते हैं।

हम नये सिरे स कर्त्ता के पक्ष को समाजवादी साहित्य में लाना होगा। बाह्य परिस्थिति प्रभाव डालता है, पर परिस्थिति और मानव अन्तस्तल की धारा क मिलने स किस रूप की भावनाएं प्रकट होती हैं इसे बताना होगा। ऐंगिल्स ने भी मरने के पहले कहा था कि —"अन्तस्तल में जाकर ये किस रूप में प्रकट होती है इसे हम नहीं बता पाये। यह पक्ष उपेक्षित

रहा। इससे हमारे विरोधियों को मौका मिला कि हमारे सिद्धान्तों के बारे में गलतफहमी पैदा करें।"

आर्थिक मनुष्य अर्द्ध काल्पनिक मनुष्य है। इसीलिए लेनिन ने कहा था—समाजवाद की रचना का कार्य हमारे काल्पनिक मनुष्यों के द्वारा नहीं, बल्कि उन मनुष्यों के द्वारा होगा जो हमें पूंजीवाद से विरासत के रूप में मिले हैं।

अन्तःकरण

मनुष्य के अन्तस्तल को मोटे तौर पर तीन भागों में बांटा जा सकता है, जाग्रत, सुषुप्त और अचेतन। याद रहे, अन्तर एक ही है, उसमें कहीं भाग नहीं, जैसे सा, रे, ग, म, आदि एक ही स्वर के चढ़ाव उतराव हैं, सात भिन्न-भिन्न स्वर नहीं। चित्त-विश्लेषण शास्त्र हमें बताता है कि इनमें अचेतन, जिसे साधारणतः हम नहीं जानते बहुत ज्यादा प्रभाव रखता है। फिर भी उसे पूर्ण प्रकाश का मौका नहीं मिलता। क्यों? इसे समझने के लिए अन्तस्तल के कार्यकलाप को एक और तरह से समझना होगा।

प्राणी के अन्तस्तल में उद्दाम वासना की प्रचण्ड ज्वाला है। वह नहीं जानती धर्म को, समाज को, देश को, स्वयं अपने शरीर को। इसे चाहिए तृप्ति, चाहे सारा विश्व या स्वयं जलकर खाक हो जायें। दूसरी ओर हैं वास्तविकताएँ, परिस्थितियाँ, जो कदम कदम पर रोक लगाती हैं, अंकुश देती हैं। उन्हें भी इन्कार कर जीवन नहीं चल सकता। इसलिये पैदा होती है विधि-विवेकमयी नयी अन्तर्धारा। वासना, वास्तविकता

और विधि विवेकमयी बुद्धि ये तीन धाराएँ आपस में अनवरत टकराती रहती हैं। कुचली हुई उद्दाम वासनाओं का ज्वाल अन्तर में लेकर, बाह्य-बाधाओं से युद्ध में संलग्न, विधि-निषेधमयी अपनी ही भावना से त्रस्त, मनुष्य अक्सर अज्ञात ग्लानि और पीड़ा से व्यथित रहता है। एक ओर समाज विहित आचारों की श्रेष्ठता की छाप अन्तर पर पड़ जाती है, दूसरी ओर वासनाओं से पिंड नहीं छूटता। इसलिए मानव-अन्तस्तल तीसरी तौर पर दो भागों में विभाजित रहता है—साधारण और असाधारण।

वासना और वास्तविकता जहां एक दूसरे के सामने नर भुका, मिलकर काम करने लगती हैं वहां अन्तर साधारण गति से चलता है। जहा वास्तविकता वासना के सामने जरा भी भुकना नहीं चाहती या वासना वास्तविकता के सामने नहीं वहा असाधारण कार्य कलापों की सृष्टि होती है। जो विशेष होने पर तरह-तरह की बीमारियों और पागलपन में प्रकट होते हैं। पर याद रहे, पागलपन की छोटी लहरें हर व्यक्ति में रहती हैं और साधारणता की लहरें प्रत्येक पागल में।

अन्तर्जगत के बीच के संघर्षों से पैदा होते हैं भाव-बंध (Obsession), भाव ग्रंथि (Complex) उन्नयन (Sublimation) और तर्क बहलाव (Ratiocination)। अभ्यास से पैदा होता है पुराने आचारों का बन्धन। इन आचारों के प्रति मनुष्य का जबरदस्त खिंचाव रहता है। ये आचार तो पैदा हुए थे किसी बीते युग में उस युग की आवश्यकता को पूरा करने के लिये, परन्तु उनका अधिकार अब मनुष्य के हृदय

ही मनुष्य उलझ जाता है काम वासना में। ऐंगिल्स ने 'परिवार की उत्पत्ति' में लिखा है—"वयस्क युवकों की सहिष्णुता, ईर्ष्याहीनता, पहली शर्त है, बड़े और स्थायी समाजों के गठन की, जिन समाजों में मनुष्य पशुता से ऊपर उठकर मनुष्य बनता है।"

पर फ्रायड ने भी माना है कि प्रवृत्तियों के दमन का प्रेरक लक्ष्य आर्थिक है। (At bottom societies motive for restraining the instinctive life is economic.)

भाषा के जन्म के इतिहास पर लिखते हुए फ्रायड ने माना है कि भाषा का जन्म प्रेयसी या प्रिय को पुकारने में हुआ। पीछे इन्हीं ध्वनियों को श्रम के साथ जोड़ दिया गया। यानी कामैषणा का उन्नयन हुआ। (Labour process provides a channel for displaced sexual energy.) जांता चलाते हुए स्त्रियाँ जो स्वम्भ-गीत गाती हैं उनका अगर अध्ययन करें तो श्रम और काम-वासना का सम्बन्ध और ज्यादा साफ दीख पड़ेगा।

१७८९ में पेरिस वासियों ने पुराने देवताओं के स्थान पर समता, भाईचारा, और स्वतन्त्रता को बैठाया। एक बड़े गिर्जाघर में समारोह के साथ स्वतन्त्रता देवी को बैठाकर धन्यवाद दिया गया। स्वतन्त्रता देवी के स्थान पर बैठी कौन ? पेरिस की सर्वसुन्दरी नर्तकी। ऐसा ही मनुष्य है।

वर्त्तमान परिस्थिति—

किसानों और मजदूरों का जो सही नेतृत्व करना चाहते हैं, उन्हें इन वर्गों को समूहों और टुकड़ों दोनों में अच्छी तरह अध्ययन करना होगा। व्यक्ति ही सब कुछ है या व्यक्ति नगण्य है, दोनों विचार एकांगी हैं।

१८९० में अपने मित्र ब्लोक को खत लिखते हुए ऐंगिल्स ने लिखा था "जीवन की अनेकों विभिन्न स्थितियों से पैदा होती हैं इच्छाएँ, इन हजारों लाखों इच्छाओं के संघर्ष की धारा से बनता है इतिहास। एक ऐतिहासिक घटना के पीछे शक्तियों के संतुलन का असंख्य श्रेणियाँ हैं। प्रत्येक अपने शरीर तथा मन की बनावट और बाह्य परिस्थिति (जिस में प्रधान है आर्थिक) के अनुसार इच्छा करता है। पर परिणाम होता है इच्छाओं का सामूहिक लघुत्तम। इससे यह नतीजा नहीं निकालना चाहिए कि व्यक्तिगत इच्छाओं का मूल्य है = O, उल्टे प्रत्येक की इच्छा, परिणाम का साधक और भागी है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार इतिहास में अन्तिम निर्णायक प्रभाव होता है पैदावार का। इससे ज्यादा न हमने कहा है न मार्क्स ने। इसलिए कोई यदि हमारे वाक्यों को तोड़-मरोड़ कर यह अर्थ निकालता है कि आर्थिक पहलू ही एक मात्र निर्णायक पहलू है, तो वह हमारे वाक्यों को अर्थहीन, अवास्तव और निकम्मा बना देता है। आर्थिक परिस्थिति बुनियाद है, पर उसके ऊपर खड़े हुए महल के भिन्न-भिन्न मार्गों, लड़ने वालों के अन्तर में वर्ग संघर्ष का राजनैतिक रूप: राजनैतिक, दार्शनिक और सामाजिक सिद्धान्त;

पर दृढ़ हो जाता है तो आवश्यकता मिटने पर भी उसका प्रभाव नहीं जाता। लेनिन ने कहा था—"लाखों मानव के अन्तर में जमे हुए अभ्यास की शक्ति अत्यन्त प्रबल होती है।" (The power of habit ingrained in millions and tens of millions is a terrible power.)

इसी तरह मजहबी ख्यालों का भी प्रभाव अन्तर पर रहता है। मार्क्स और फ्रायड दोनों ने माना है कि बाह्य वास्तविकता के सम्मुख मनुष्य जो असहायपन अनुभव करता है वही मजहब की बुनियाद है। अपने और संसार का अज्ञान, जीवन के अर्थ की खोज, मनुष्य को ले जाती है कल्पना के जगत में। मार्क्स ने कहा है:—"मजहब, बोझ से दबे प्राणी की आह है *अथवा हृदयहीन विश्व का हृदय, अथवा आत्माहीन वस्तुस्थिति की आत्मा।*"

फ्रायड ने भी इसे ही दूसरे शब्दों में कहा है:—"*मजहबी सिद्धान्तों पर उस युग की छाप है जिसमें वे पैदा हुए याने मानव जाति की अज्ञानमय शैशवावस्था*"। इस तरह बहुरंगी अन्तर्जगत में भावनाओं और परिस्थिति के संघर्ष का परिणाम होता है सचेतन व्यवहार।

परिस्थिति में क्या है ?

(१) आर्थिक संगठन,

(२) राजनैतिक संगठन,

(३) विचार धारा,

(४) संस्कृति,
(५) परम्परागत आचार ।

मनोभावों में क्या है ?

(१) काम वासना,
(२) स्वतन्त्रता का प्रेरणा,
(३) प्रभुता की कामना,
(४) जीवन रक्षा की कामना,
(५) वश रक्षा की कामना,
(६) ज्ञान की प्यास ।

इन दोनों का संघर्ष अन्तर्द्वन्द्वों में प्रकट होता है जिस पर फ्रायड का सारा सिद्धान्त टिका हुआ है । अन्तर का ही एक भाग वासना है, और दूसरा परिस्थिति को समझने वाला सहज मन । वासना है तर्कहीन, बुद्धिहीन, केवल भोग की कामना रखनेवाली, सहज मन है तर्क और बुद्धि-युक्त, वास्तविकता को समझने वाला । इन दोनों का द्वन्द्व अनिवार्य है । फिर वासना के मूल में स्वयं द्वन्द्व है । एक ओर है काम (जीवन) दूसरी ओर है नाश (मृत्यु), मैं रहूँ न रहूँ (To be or not to be) का द्वन्द्व अज्ञात रूप से चलता रहता है, ऐसा फ्रायड का कहना है ।

याद रहे, मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । अच्छा या बुरा, किसी तरह का भी समाज उसे चाहिए । पर समाज गठन की पहली सीढ़ी पर

धार्मिक भावना,""""सभी इतिहास की धारा पर अपना प्रभाव डालते हैं और अकसर ये ही उसकी रूप-रेखा को निर्धारित करते हैं।

क्रान्ति निर्भर करती है परिस्थिति की परिपक्वता पर। परिस्थिति परिपक्व होने पर मानव समाज को क्रान्ति के मैदान में उतरना पड़ता है। इस समय में जिम्मेवारी परिस्थिति पर नहीं, संघर्ष में खड़े मानव समुदाय और उनके पथ-प्रदर्शकों पर चली जाती है। आज हम इसी अवस्था में खड़े हैं। मानव स्टेज के बीच में ढकेल दिया गया है अन्तिम पार्ट अदा करने के लिए। आवश्यकता के युग से वह किस तरह छलाग मारकर स्वतन्त्रता के युग में जायगा, इसका निर्णय उसके कार्यकलाप पर आश्रित है।

इस मानव को अध्ययन करना सबसे जरूरी हो गया है। आज हमारा सबसे बड़ा बाधक है इस मानव-अन्तर को क्रान्ति-विरोधी ग्रन्थियाँ जो उसे ले जाती हैं साम्प्रदायिक संघर्षों और जाति भेदों की रूढ़ियों की ओर। समाजवाद को अवश्यम्भावी मानकर मानवेच्छाओं और प्रेरणाओं का अध्ययन नहीं करना, यांत्रिक भौतिकवाद को अपनाना है।

स्टैलिन ने १९३४ में सोवियत यूनियन की कम्यूनिस्ट पार्टी को रिपोर्ट देते हुए कहा था—"इस समय सबसे बड़ी कमी है संगठन शक्ति रखनेवाले नेताओं की। तथा-कथित परिस्थितियों के नाम पर रोना उचित नहीं। जब कि किसान और मजदूर क्रान्ति के लिए तैयार हैं, परिस्थितियों का कार्यकलाप बहुत महत्त्व का हो गया है। अब संस्था, संगठन

और नेतृत्व की जिम्मेदारी प्रधान बन गई है। सारी असफलता और दोषों की ९०% जिम्मेदारी हमारे ऊपर है, परिस्थितियों पर नहीं।"

इस जिम्मेदारी को हम तभी पूरा कर सकते हैं जब हम मनुष्य के कल्पित चित्र को छोड़ कर, मनुष्य जैसा है वैसा ही समझने का प्रयत्न करें, उसके अन्तस्तल के गहनतल में जाकर ढूँढ़ें कि वहाँ क्या है जो उसे शान्ति की ओर बढ़ने नहीं देता और सोचें कि किस तरह इन बाधाओं को दूर किया जा सकता है।

हीगेल—ऍंगेल्स की नजरों से

फ्रांस के लिये जो स्थान १८ वीं सदी का है वही स्थान जर्मनी के लिये भी १९ वीं सदी का है। दोनों देशों में क्रांति के पहले दार्शनिक विचारों में क्रांति हुई है। परन्तु फ्रांस के लेखक राज्य तथा गिरजों पर आक्रमण करते थे। उनके ग्रन्थ चोरी से इंगलैंड तथा हॉलैंड में छपते थे, वे स्वयं बैस्टाइल में बन्द होने की आशंका में हर घड़ी रहते थे। जर्मन लेखक विश्वविद्यालयों के बड़े-बड़े अध्यापक थे। हीगेलवाद एक तरह से राज्य के दर्शन का स्थान पा रहा था।

हीगेल ने कहा था—"जो कुछ भी सत्य है, विचार संगत (rational) है, वही शुभ है।" इस वाक्य को दकियानूसों ने अपनी व्यवस्था का दार्शनिक आधार मान लिया। उनके ख्याल से इसके अनुसार प्रशिया का स्टेट् चूँकि सत्य है, विचार संगत भी है, पर वे हीगेल के आगे वाला वाक्य भूल गये। हीगेल ने यह भी कहा था कि सत्य होने के लिये किसी वस्तु को आवश्यक होना होगा। सब दोषों के होते हुये भी उस समय का

राज्य सत्य था, चूँकि वह जमाने की आवश्यकता को पूरा करता था। राज्य में दोष थे, तो प्रजा में भी थे। उस समय की जर्मन प्रजा उसी तरह के राज्य के लायक थी।

पर यह सत्य सनातन नहीं। रोमन प्रजातंत्र भी सत्य था और उसका अधिकारी रोमन राज्य भी। १७८९ में फ्रांसीसी राज्य इतना असत्य हो गया था, इतना विचार विपरीत (non-rational) था कि उसे मिटाने के लिये क्रांति आवश्यक हो गई। हीगेल फ्रांसीसी-क्रांति के बड़े भक्त थे। इसी तरह हीगेल के अनुसार विक्रम के क्रम में जो आज सत्य है, विचार सगत है वही आगे चल कर विचार विपरीत हो जाता है और जीवित रहने का आवश्यकता खो बैठता है। पुराना निरर्थक व्यवस्था का स्थान नया सत्य लेता है। पुराना व्यवस्था के अधिकारी अगर दार्शनिक हुये तो यह काम शान्ति पूर्वक होगा, अन्यथा बल से। हीगेल का द्वन्द्वात्मक न्याय हो हमें इस नतीजे पर पहुँचा देता है। हीगेल के अनुसार हमें मानना चाहिये कि जो कुछ है उसकी किस्मत यही है कि उसे विनष्ट होना है।

हीगेल के दर्शन में यही क्रांति का बीज छिपा है। हीगेल ने बराबर के लिये मनुष्य के विचार और कार्य से अन्तिमता को इमशान घाट पहुँचा दिया। सत्य कोई स्थाई चीज नहीं रहा। सत्य भी एक के बाद दूसरा सीढ़ियों से बढ़ता हुआ, विवर्धित होता रहता है। पूर्ण सत्य, याने वह स्थान जहाँ पहुँच कर कुछ जानने को न बच हाथ पर हाथ रख कर, जो जाना गया है उस के सौन्दर्य्य ग्रहण में मग्न रहा जाय,

रहा ही नहा। इसी तरह ससार में भी पूर्ण समाज की भावना सिर्फ कल्पना मात्र रह गई। प्रत्येक अवस्था अपने समय के लिये ठीक है, परतु इसी के गर्भ में नई अवस्था, नया समाज तैयार होता रहता है और पुराने को इसके लिये स्थान खाली करना पड़ता है। कुछ भा अतिम, पूर्ण या पुनात नहीं है। जैसे धनी वर्ग, बड़े पैमाने का व्यवसाय और ससार व्यापी वाणिज्य को विकसित कर पुरानी युग प्रतिष्ठित सस्थाओं और भावनाओं को खत्म कर देता है और एक आवश्यक सत्य बन कर समाज के सामने नया विधान, नई विचार धारा आती है, उसी तरह सर्वहारा उसके गर्भ से निकल कर उसे समाप्ति कर, नई विचार धारा, नये विधान को आवश्यक सत्य के रूप में समाज के सामने रखेगा।

पर इसमें एक अप्रगतिशील पक्ष भा है। याने समाज और ज्ञान की विशेष अवस्था में उस अवस्था के अनुकूल सगठन और ज्ञान की आवश्यकता है। परन्तु यह सापेक्ष है। परिवर्तन, क्रांति सनातन है।

विज्ञान के नये अनुसधानों ने यह भी कहा है कि ससार का नाश हो जायगा। इस दृष्टि से मानव के विकास में भी नीची उतरती हुई धारा होनी चाहिए। एक तो उस परिवर्तन विन्दु से हम बहुत दूर हैं दूसरे हीगेल के जमाने के पदार्थ-विज्ञान ने इस समाज के सामने नहीं रखा था।

यह भी समझ लेना चाहिए कि हीगेल ने स्वय अपने विचारों को इस सफाई के साथ नहीं रखा था। पर ये विचार हीगेल के सिद्धान्तों से स्वत निकलते हैं। यद्यपि अपने तर्कशास्त्र में हीगेल ने कहा कि जो

वह कह रहे हैं, सिर्फ ऐतिहासिक गति है। फिर भी उन्होंने जमाने के भावों के अनुसार अपना गति का समाप्त कर-पूर्ण सत्य खड़ा कर दिया। पूर्णसत्य याने जिसके बारे में वे पूर्णरूप से नहीं कह सके, उनके दर्शन का अन्त और प्रारम्भ दोनों है। प्रारम्भ में यही परम भावना (absolute idea) अपने को पृथक (alienate) करती है यानि अपने को दृश्यमान प्रकृति में बदल देती है, फिर अन्त में विचारों द्वारा अपने आप में आ जाती है। यही हीगेल के दर्शन का लक्ष्य है। इस तरह उनके दर्शन के साधन और साध्य में विरोध है। द्वन्द्वात्मकवाद पूर्ण सत्य की भावना को काटता है और पूर्ण सत्य की भावना द्वन्द्वात्मक न्याय को काटता है। क्रान्तिकारी भावना दब जाती है। धनी वर्ग के उपयुक्त, दयामय, प्रजावत्सल राजा का राज्य उचित हो जाता है। हीगेल जर्मन था और अपने जमाने की भावनाओं से प्रभावित था। इसी कारण ऐसे क्रान्तिकारी दर्शन से इतना नरम परिणाम निकला। पर हीगेल की तात्विक बुद्धि ने दर्शन, इतिहास, कानून सब क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक न्याय का कार्य दिखाया। वह केवल विशिष्ट प्रतिभावान ही नहीं था, बल्कि उसका ज्ञान विश्वकोष की तरह विशाल था। सब क्षेत्रों में उसकी पैनी दृष्टि फैली हुई थी। कहीं कहीं उन्होंने तोड़-मरोड़ किया है पर इन बाहरी दीवारों के किनारे टहलना छोड़ यदि हम हीगेल के विशाल भवन के भीतर जायें तो उसकी महत्ता देख हमें दाँतों तले उँगली दबाना पड़ता।

पर हमें यह याद रखना चाहिए कि दर्शन का काम एक व्यक्ति से पूरा
ा सकता। मानव जाति के उत्तरोत्तर विकास से ही दर्शन उत्तरोत्तर
ोता जायगा। इस अर्थ में दर्शन का ही पुराने अर्थ में अन्त हो
ा। मनुष्य फिर जानने योग्य सापेक्ष सत्यों को विज्ञान के रास्ते से
और द्वन्द्वात्मक न्याय से उनके परिणामों से फायदा उठायगा।

यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि ऐसे दर्शन का
ा बड़ा प्रभाव उस युग पर पड़ा होगा। १८३० से ४० तक हो
ावाद का जर्मनी पर पूर्ण साम्राज्य रहा। कला, साहित्य, विज्ञान,
अखबार सब में यह फैल गया।

इस विजय से फिर आन्तरिक संघर्ष पैदा हुए। जिन्होंने हीगेल की
ाली को मुख्य माना, वे प्रतिक्रियागामी रहे, जिन्होंने उनके द्वन्द्वात्मक
ा को मुख्य माना वे क्रान्तिकारी दल में आगये।

१८४० के करीब वामपक्षी युवक हीगेलवादियों ने धीरे-धीरे
ाजिक प्रश्नों पर गम्भीरता या चुप्पी छोड़ दी। फ्रेडरिक विलियम
ा के गद्दी पर आरूढ़ होने के साथ ही इन दार्शनिकों को राजनीतिक
भाजन बनना पड़ा। १८४२ में राइनिशे ज़ाइटुंग के द्वारा मार्क्स ने
ा विचार खुल कर जनता के सामने रखे। मार्च १८४३ में यह पत्र
ार द्वारा बन्द हो गया।

इस समय संघर्ष का मुख्य केन्द्र धर्म था। पेरिस में स्ट्रौस
किताब 'ईसा की जीवनी' प्रकाशित हुई। लिखने में 'न्यू नो

बॉवर' न अपने लेख निकाले और यह साबित किया कि बाइबिल की सारी कथा कपोलकल्पित है। पर यह वहम हुई पदार्थ या चेतन के नाम से। आगे चलकर युवक हीगेलवादियों ने बेकन, हॉब्स, लाक, डिडरो, हेलवेटियस, और हेलवाख के अग्रेजी और फ्रांसीसी भौतिकवाद का खुला पक्ष लिया। इसी समय फायरवाख का 'ईसाईमत का सारतत्त्व' नामका किताब प्रकाशित हुई। उसमें फायरवाख ने प्रकृति को ही प्रधान, सर्वोपरि माना। उस समय का रहने वाला ही ठीक-ठीक समझ सकता है कि इस पुस्तक ने कितनी बड़ी क्रान्ति की। हम सब फायरवाखी हो गये। मार्क्स ने इसका जोरदार स्वागत किया। रूखी और दार्शनिक बातें सुनते सुनते जनता ऊब गई थी। इसकी साहित्यिक भाषा और प्रेम की पुकार ने जनता को इस ओर खींच लिया। पर यहीं इसकी कमजोरी भी थी। १८४४ में समाजवाद का विचार प्लेग की तरह फैल रहा था। फायरवाख ने संघर्ष और क्रान्ति के स्थान पर प्रेम को बैठा कर जर्मन शापित वर्ग का बहुत बड़ा नुकसान किया। फायरवाख ने हीगेल के आदर्शवाद को हटाया तो परन्तु उसे वह भौतिकवाद के आधार पर खड़ा नहीं कर सका। इसी बीच १८४८ का जमाना आगया और इस उथल पुथल में फायरवाख फेंक दिया गया।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद–(ऐंगेल्स के शब्दों में)

फायरबाख ने भौतिकवादी पुराने दर्शन के साथ अपने जमाने के विज्ञान के विकास को मिला दिया। वह भूल गये कि प्रकृति विज्ञान के प्रत्येक बड़े नये अनुसंधान के साथ भौतिकवाद का रूप भी बदलता रहता है। १८वीं सदी का छिछला और संकुचित भौतिकवाद, जिसका प्रचार बूखनर और मोलेशॉट ने किया था, हमें मान्य नहीं है।

१८वीं सदी का भौतिकवाद यांत्रिक था। उस समय सिर्फ ठोस पदार्थों की बनावट मालूम थी। रसायन शास्त्र प्रारंभिक अवस्था में तथा जीव-शास्त्र पालने पर झूल रहा था। देकार्ते के लिये जो पशु का स्थान था वही स्थान १८वीं सदी के भौतिकवादियों के लिये आदमी का था। अब हम जानते हैं कि रसायन और जीवन संयुक्त पदार्थों में यांत्रिक नियम लगते हैं जरूर, परन्तु उनसे भी ऊँचे नियमों की प्रधानता हो जाती है। पुराने भौतिकवादियों की दूसरी दिक्कत यह थी कि वे संसार को विकसित होने की क्रिया में नहीं देख पाते थे। उस

समय के विज्ञान के साथ द्वन्द्वात्मक-न्याय-विरोधी दर्शन भी लगा हुआ था। वे यह जरूर कहते थे कि प्रकृति सतत् गतिवान है, पर उस युग के विचारों के अनुसार गति एक चक्र में घूमती थी इसलिये अपना जगह से कभी हटती न थी। एक ही परिणाम बार बार दुहराये जाते थे। कान्ट का सिद्धान्त, यानी सूक्ष्म नैहारिक पदार्थों के चक्रमाण गति से सूर्य और अन्य ग्रह पैदा हुवे; समाज के सामने आ गया था, पर वैज्ञानिकों ने उसे माना नहीं था। भूतत्व के विकास से ही पृथ्वी के साधारण से जटिल रूप में परिवर्तित होते होते जीवधारियों की सृष्टि हुई है, यह भी वैज्ञानिक ढग पर लोगों को मालूम नहीं था। इसलिये प्रकृति के बारे में अनैतिहासिक दृष्टिकोण स्वाभाविक था। परन्तु हम १८वीं सदी के लोगों को इसके लिये दोष नहीं दे सकते। हेगेल के अनुसार भी प्रकृति सिर्फ विचार (idea) का बाह्यकरण (alienation) है, वह काल में विकसित होने की क्षमता नहीं रखता। सिर्फ देश में अपनी अनेक-रूपता को फैलाती है, और इस तरह साथ साथ अगल बगल सभी अवस्थाओं को वह हमारे सामने रखती है; और बराबर यही दुहराया जाता रहेगा। जिस समय भूगर्भ-शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, पशुशास्त्र और जीवन-रसायन शास्त्र आगे बढ़ रहा था, उस समय काल को छोड़ कर सिर्फ देश में प्रसार का असम्भव सिद्धान्त हेगेल ने हमारे सामने रखा था। इसी समय गेटे और लेमार्क विकासवाद के सिद्धान्त की पूर्व भूमिका हमारे सामने रख रहे थे। पर हेगेल को अपने दर्शन की पद्धति के लिये इन सबों से आँखें मूदनी पड़ी। इसी तरह की

अनैतिहासिक भावना इतिहास के अध्ययन में भी काम कर रही थी। उस समय का अधूरा भौतिकवाद सिर्फ अनीश्वर वाद में डूबा हुआ था और विज्ञान की नई नई खोजों में सिर्फ यही दिखाने के प्रयत्न में था कि इस संसार का कोई कर्त्ता नहीं हो सकता। अपने सिद्धान्त को कायम करने का उसे चिंता न थी।

कोष्ठ सिद्धान्त, शक्ति का रूप परिवर्तन और डारविन का विकास वाद फायरवाख के समय में संसार के सामने आ चुके थे, पर जब वैज्ञानिक ही इन अनुसंधानों के आपस के सम्बन्ध और महत्व को नहीं समझ पा रहे थे तो निर्जन देश में रहने वाला बिचारा फायरवाख क्या समझ पाता।

दूसरे, फायरवाख ने ठीक ही कहा था कि "प्राकृतिक-वैज्ञानिक भौतिकवाद मानव-ज्ञान के भवन की नींव हो सकती है पर भवन नहीं।" हम सिर्फ प्रकृति के बीच में नहीं रहते, पर मानव समाज में भी, और प्रकृति की तरह इसके भी अपने नियम हैं, समाज विज्ञान के साथ प्रकृति विज्ञान का मेल कराना होगा।

स्टार्क ने फायरवाख को नैतिक दृष्टि से आदर्शवादी कहा है। मेरी समझ में नहीं आता कि मानवता उत्तरोत्तर उन्नत होती जा रही है, इस मानने में और नैतिक आदर्शों में कहाँ विरोध है। कांट के निरुद्देश्य आदर्शवाद (Transcendental Idealism) की धज्जी तो स्वयं हेगेल ने उड़ा दी थी। सट्टेबाज, स्वार्थी, चोर, धूर्त, शराबी, चरित्रहीन

पूंजी-पतियों ने अपना पाप हम भौतिकवादियों के मत्थे, हमें बदनाम करने के लिये, मढ़ दिया है। डिउरो ने अपना जीवन ही सत्य की खोज में बर्बाद कर दिया। भास में उससे श्रेष्ठ जीवन किसका था। हाँ, जब भौतिकता की अति मात्रा से पूंजीपति का दिवाला हो जाता है तो वह जरूर धार्मिक बन जाता है।

फायरबाख ने प्रेम की बहुत बातें की हैं। पर काम वासना, प्रेम, मित्रता, भाई चारा, ये धर्म के दायरे के बाहर भी मजे से मिल सकते हैं। 'रेलिजन' शब्द 'रलिजारे' से निकला है जिसका अर्थ होता है 'बंधन'। इस अर्थ को लेकर, याने शाब्दिक हेर-फेर के आधार पर दर्शन नहीं कायम हो सकते थे। एक दार्शनिक का कहना था कि धर्म के बिना राक्षस ही रह सकता है। अगर कोई अनीश्वरवादी उससे पूछता कि हम क्या है तो वह कहता—"वाह! नास्तिक्वाद ही तुम्हारा धर्म है। इस तरह तो फिर हमें भी धार्मिक कहा जा सकता है।

हीगेल ने कहा था, जब कोई कहता है—"मनुष्य स्वभावतः भला है" तो हम इस वाक्य को महान वाक्य समझ बैठते हैं, पर हम भूल जाते हैं कि इससे भी बड़ा है कहना यह कि "मनुष्य स्वभावतः बुरा है"। ऐतिहासिक विकास की धारा को ऐसी ही कहा जाने वाली शक्तियों ने बल प्रदान किया है। क्योंकि एक ओर तो प्राचीन, चाहे जितना भी बुरा या निकम्मा हो उसे महत्व मिल जाता है, दूसरे विजय का सामना, स्वार्थ न ही बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक घटनाओं को प्रेरणा दी है। इस तरह के नैतिक-

इसे के ऐतिहासिक रोल को फायरबाख नहीं समझ सके। उन्होंने स्वय कहा था—"प्रकृति की गोद से निकलने के बाद मनुष्य प्राकृतिक जीव मात्र था। मनुष्य वह बना—सभ्यता, इतिहास और समाज से।

यह ठीक है कि आनन्द की ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। परन्तु इसकी सीमा है। एक उन कार्यों के परिणाम। ज्यादा भोग से आंखों के नीचे काली रेखायें बन जाती हैं और शक्ति क्षीण हो जाती है। दूसरा कार्यों के सामाजिक परिणाम। हमें दूसरों की भी भावनाओं पर ध्यान देना होगा। अपने में ही डूबा रहकर मनुष्य आनन्द की ओर नहीं जा सकता। बाहरी दुनिया, विपरीत सेक्स का व्यक्ति, पुस्तक, सलाप, कार्य, व्यवहार के समान, इन्हीं में उमलकर मनुष्य सुख पाता है। पर ये कितने को प्राप्त हैं! फायरबाख ने स्वय कहा था—"मनुष्य झोपड़ा और महल में भिन्न भिन्न तरीके से सोचता है। गरीबी और भूख से जो पीड़ित है, जिसका पेट खाली है, उसके हृदय और मस्तिष्क में कैसे नीति धर्म स्थान पा सकता है। दूसरी ओर क्या आनन्द प्राप्त करने के सबके साधन समान हैं? गुलाम और मालिक के, कृषक दास और सामन्तों के हक क्या कभी भी बराबर रहे हैं? बुर्ज्वा को अपने हकों की लड़ाई के दर्म्यान मजबूर होकर कानून के निकट आदर्श रूप से सबको समानता माननी पड़ी। पर क्या असलियत में कहीं एकता है? निरे सैद्धान्तिक समता की कीमत ही क्या है?

फायरबाख इससे ऊपर नहीं जा सके। हीगेल के बाद मार्क्स ने ही पूरी चीज हमारे सामने रखी।

अक्सर लोग पूछते हैं मार्क्सवाद में मेरा क्या हिस्सा रहा है। ४० वर्ष मार्क्स के साथ सहयोग के जमाने में कई बातें मैंने भी सुझाई। पर सिद्धान्तों की बुनियाद डालने का मुख्य काम मार्क्स ने किया। खास तौर से इतिहास और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सिद्धान्तों का निरूपण उन्हीं का किया हुआ है। जो मैंने किया वह मार्क्स मेरे बिना भी कर सकते थे, पर जो मार्क्स ने किया वह मेरे लिये सम्भव नहीं था। मार्क्स की दृष्टि हम सबों से आगे जाती थी और पैनी तथा व्यापक थी। जहाँ मार्क्स अलौकिक प्रतिभाशाली थे, ज्यादा से ज्यादा हम सब प्रतिभावान कहे जा सकते हैं। उनके बिना ये सिद्धान्त इस रूप में नहीं होते जिस रूप में आज वे हैं, इसलिये ठीक ही ये सिद्धान्त उनके नाम पर चलते हैं।

हम लोगों का आधार भौतिक संसार था। हमने पहले ही तय कर लिया कि कल्पना के क्षेत्र में नहीं जायेंगे। हीगेल के क्रांतिकारी द्वन्द्वात्मक न्याय से हमने अपना काम शुरू किया। परन्तु हीगेल ने जिस साँचे में इसे ढाला था, वह साँचा हमारे लिये बेकार था। हीगेल के अनुसार प्रत्यय (Concept) का स्वतः विकास ही द्वन्द्व न्याय है। निरपेक्ष प्रत्यय (Absolute Concept) सिर्फ अनादिकाल से है ही नहीं बल्कि यह वर्तमान संसार की जीवित आत्मा है। शुरू में वह स्वयं विकसित होता रहता है आगे चल कर वह अपने को प्रकृति से अलग कर देता है। आत्म ज्ञान की भावना भी इतिहास में विकसित होती रहती है और अन्त में पूर्णता को प्राप्त होती है। अनादिकाल से

इस प्रत्यय के स्वतः विकास की ही छाया हम प्रकृति के द्वन्द्वात्मक विकास में पाते हैं जिसमें टेढ़े मेढ़े कभी अस्थाई काल के लिये रुकते हुये, छोटे से बड़े रूप में, प्रगतिगामी आन्दोलन के द्वारा प्रकृति आगे बढ़ती जाती है। इस तरह हीगेल ने सैद्धांतिक दृष्टि से उल्टी तस्वीर हमारे सामने रक्खी थी। हमने प्रत्यय को भौतिक दृष्टि से देखा।

निरपेक्ष प्रत्यय की तस्वीर यह ठोस संसार नहीं है बल्कि संसार के ही चित्र हमारे विचारों को प्रभावित करते हैं। इस तरह द्वन्द्वात्मक न्याय गति के नियमों का विज्ञान होगया। वाह्य जगत और मानवीय विचार-धारा दोनों की गतियाँ अनन्त घटनाओं की धारा में आकस्मिक घटनाओं की तरह दीखती थीं। ये नियम अब तक अपना काम प्रकृति और मानव के इतिहास के बड़े भाग में अज्ञात तौर पर कर रहे थे। पर अब मनुष्य धीरे-धीरे उन नियमों का प्रयोग जान-बूझ कर करने लगे हैं। इसलिये ये दो तरह के नियम स्वभावतः जो एक ही हैं पर उनका प्रकाश दो तरह से होता है। इसलिये प्रत्यय, द्वन्द्वन्याय की सचेतन छाया बनगया। इस तरह हीगेलवाद जो औंधा पड़ा था, उसे हमने सीधा खड़ा कर दिया। यही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हमारा सबसे बड़ा और सबसे तेज अस्त्र है।

हमारे विचारों का बुनियाद यह है कि संसार को बने बनाये माल का समुच्चय नहीं मानना चाहिये, बल्कि हम उसे बनते रहने की क्रिया में देखें। वस्तु या उनके मानसिक चित्र बनते हैं फिर चले जाते हैं। दिखाई

पड़ने वाली अचानकता और क्षणिक प्रतिगमन (retrogression) के बावजूद अन्त में उन्नतिशील (Progressive) प्रगति का ही जोर होता है। इस बात को मोटे तौर पर हेगेल के बाद ज्यादातर लोग मानने लगे हैं। पर जब इसे व्यवहार में लाने की बात होती है तब वे ही लोग घबड़ाते हैं। इस दृष्टि कोण से हमारी खोज प्रारम्भ हो तो अंतिम और पूर्ण सत्यों की माँग सदा के लिये समाप्त हो जाय। सभी प्राप्त ज्ञानों की सीमा है। ज्ञान जिस परिस्थिति में हासिल किया गया उसमें सीमित है अर्थात् उस पर आश्रित है। इसे हम बराबर याद रखें। साथ ही जिसे पुराना अध्यात्मवाद हल नहीं कर सका उस सत्य-मिथ्या, अच्छा बुरा, आवश्यक-अचानक के विरोधों से हम ऊपर उठ जाते हैं। हम जानते हैं कि इन विरोधों का मूल्य सापेक्ष ही है। जिसे आज हम सत्य मानते हैं, उसमें मिथ्या पक्ष भी छिपा है, जो आगे चलकर प्रकाशित होगा। जिसे आज हम मिथ्या समझते हैं उसमें कभी सत्य पक्ष भी रहा होगा। जिसे आज हम आवश्यक मानते हैं वह सिर्फ अचानक घटनाओं का बना हुआ है और *अचानकों के रूप के पीछे आवश्यक छिपा हुआ है।*

पहले लोग निश्चित, बने-बनाये, रूप की खोज करने और उसी रूप का चिन्तन करते थे। इसका ऐतिहासिक कारण भी था। स्थिर वस्तु की परीक्षा के बाद ही उसकी गतिवान अवस्था की परीक्षा हो सकती है। प्राकृतिक विज्ञान उस समय इसी अवस्था में था। पर जब विज्ञान की उन्नति इतनी ज्यादा हो गई कि वस्तुओं की गतिवान अवस्था में परीक्षा

की जा सके, तब पुराने दर्शन की अंतिम घड़ी आ गई। आज विज्ञान वस्तुओं के जन्म, विकास और उनके आपस के सम्बन्ध की खोज करता है। जीव शास्त्र, वनस्पति शास्त्र और भ्रूण-शास्त्र, एक व्यक्तिगत जीवन का जन्म से परिपक्वता तक और भूगर्भ शास्त्र भूमि तल के बनने की क्रिया के नियमों को बताते हैं।

परन्तु सबसे ज्यादा तीन खोजों ने प्राकृतिक क्रियाओं के आपसी सम्बन्ध के ज्ञान को बहुत ज्यादा आगे बढ़ा दिया है। पहला कोष्ठ का आविष्कार जिसके गुणन और विभिन्नताकरण से वनस्पति या जीव का विकास होता है। इससे सिर्फ यही नहीं मालूम हो गया कि सभी ऊँचे दर्जे के सजीव पदार्थ एक ही समान नियम से विकसित होते हैं परन्तु इस कोष्ठ के परिवर्तन की शक्ति से सजीव पदार्थों के जाति परिवर्तन होने का रास्ता हमें मालूम हो गया है। दूसरा महत्वपूर्ण आविष्कार है शक्ति (Energy) का बदलना। इससे हमें पता चला कि निर्जीव पदार्थों में काम करनेवाली यान्त्रिक शक्ति, अंतर्निहित शक्ति, गर्मी, बिजली, चुम्बकत्व, रसायनिक शक्ति ये सब एक ही विश्वव्यापी गति के विभिन्न रूप हैं। एक की निश्चित मात्रा, दूसरे की निश्चित मात्रा में बदल जाती है। इस तरह प्रकृति की सारी गति अनवरत एक रूप से दूसरे रूप में बदलती रहती है। तीसरा महत्वपूर्ण अनुसंधान डार्विन का है। जिसमें हमें मालूम हुआ कि मनुष्य को लेकर सभी सजीव पदार्थों की सृष्टि एक कोष्ठ वाले बीजों से हुई है। ये कोष्ठ पैदा हुये प्रोटोप्लाज़म या एलबुमेन की

की रसायनिक क्रिया से।

प्राकृतिक विज्ञान की महान उन्नति से आज हम, सिर्फ व्यक्तिगत क्षेत्रों के आपसी सम्बन्ध ही नहीं, बल्कि इन क्षेत्रों के भी आपसी सम्बन्ध बता सकते हैं। पहले यही काम करना था तथा-कथित प्राकृत दर्शन को। अज्ञात असली अन्तर्सम्बन्धों की जगह पर यह कल्पितों को ही रख कर काम कर सकता था। ऐसा करते हुये इसने चमत्कार पूर्ण विचार रक्खे, अक्सर आगे आगे होने वाले आविष्कारों की पूर्व सूचना दी। पर इसने बहुत से अर्थहीन विचार भी पैदा हो गये। इससे बचना इसके लिये असम्भव हो था। आज ऐसा करना सिर्फ बेकार ही नहीं बल्कि संसार को पीछे ढकेलना है।

यही लागू होता है दर्शन, कानून, धर्म के क्षेत्रों में भी। दार्शनिकों के गुनारे भावों को यहाँ लादने की आवश्यकता नहीं रहा। हीगेल के अनुसार निरपेक्ष प्रत्यय का ज्ञान प्राप्त करना ही महानलक्ष्य है उसी की ओर इतिहास अज्ञान रूप से मानव समाज को लिये जा रहा है। हीगेल ने इतिहास के असली अन्तर्सम्बन्धों की जगह पर एक रहस्यमय अज्ञात तत्त्व रख दिया। यहाँ भी हमें मानव समाज की गति के नियमों को खोज कर, कल्पित अन्तर्सम्बन्धों की जगह पर असली नियमों को रखना है।

हाँ, एक बात में समाज के विकास का इतिहास प्रकृति से भिन्न रखता है। प्रकृति में अचेतन शक्तियाँ अन्धों की तरह अपना काम करती जाती हैं। इन्हीं शक्ति के मेल में हम व्यापक नियमों को कार्य करते देखते

है। जो कुछ भी होता है उसमें हम वहाँ भी समझे बूझे वांछित उद्देश्य नहीं देख पाते। दूसरी ओर समाज के इतिहास में सभी पात्र सज्ञान हैं, वे जान बूझ कर भावनाओं से प्रेरित हो काम कर रहे हैं। उनका एक विशेष लक्ष्य है। इतिहास में खोज के लिये, खास तौर से एक घटना या अवसर को समझने के लिये यह अन्तर याद रखना आवश्यक है। फिर भी यह अन्तर इस बात को बदल नहीं सकता कि अपने आन्तरिक नियमों से इतिहास की गति बँधी हुई है। यहाँ हम देखते हैं कि जो चाहा जाता है वह शायद ही होता है, भिन्न प्रकार की कामनायें आपस में टकराती रहती हैं, या उनके पूरा होने के साधन नहीं होते, या वे पूरा हो ही नहीं सकते। अगणित व्यक्तियों की इच्छायें और कार्य इतिहास में भी अचेतन प्रकृति के क्षेत्र की अवस्था को ही पैदा करते हैं। मनुष्य जो कार्य करता है, लक्ष्य को सामने रख कर ही, पर इन कार्यों का परिणाम वही नहीं होता। जब परिणाम, उद्देश्य से मिलता हुआ सा भी मालूम होता है, वहाँ भी आगे चलकर इतिहास रुख बदल लेता है। मालूम होता है कि इतिहास में भी आकस्मिकता का ही बोलबाला हो। पर यह सिर्फ ऊपरी सतह की बात है, भीतर घुस कर हम देखें तो हमें छिपे हुये नियमों का पता लगेगा।

मनुष्य अपना इतिहास स्वयं बनाता है चाहे इसका जो भी परिणाम हो। याने प्रत्येक अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने की कोशिश करता है। ये अनेक इच्छायें जो भिन्न भिन्न दिशाओं में काम करती हैं और उनका बाह्य संसार पर जो असर पड़ता है वही इतिहास है। यहाँ यह प्रश्न उठता

है कि बहुत से व्यक्ति क्या चाहते हैं? ये इच्छायें संचालित होती हैं विचार और भावना से। पर इन विचारों या भावनाओं की प्रेरक शक्तियां और ही हैं। महत्वाकांक्षा, सत्य या न्याय के लिये उमंग, घृणा या पागलपन इन सब को हम मैदान में पाते हैं। पर हमने देखा है कि परिणाम, बहुत से लोगों की भावना के विपरीत या अन्य दिशा के होते हैं। इसलिये परिणाम की दृष्टि से उनकी प्रेरणाओं का महत्व गौण है। दूसरी ओर फिर यह सवाल उठता है कि उन कामनाओं के पीछे कौन सी प्रेरक शक्तियां हैं? इन पात्रों के मस्तिष्क में कौन से ऐतिहासिक कारण कामनाओं का रूप लेते रहते हैं।

पुराने भौतिकवाद ने यह प्रश्न कभी उठाया ही नहीं। इसने कामना की दृष्टि से सब की परीक्षा की। उसने कार्यों को श्रेष्ठ और नीच, दो भागों में बाँटा फिर उसने कहा कि संसार में अच्छे धोखा खाते हैं और बुरे विजयी होते हैं। इसलिये पुराने भौतिकवाद की दृष्टि से इतिहास में अच्छी बातें सीखने को नहीं मिल सकतीं। पुराना भौतिकवाद रास्ते में ही अटक गया, उसने कामनाओं को ही अंतिम प्रेरक-शक्ति मान ली, आगे बढ़ कर यह खोजने का प्रयत्न नहीं किया कि इन कामनाओं का प्रेरक कौन है? यहां उनकी असली भूल थी। हीगेल ने आगे बढ़ कर इसे ढूँढने का प्रयत्न किया है पर उन्होंने संसार से बाहर जाकर दर्शन के एक कल्पित आदर्श को लाकर यहाँ बैठा दिया।

चाहे वे कितने भी बड़े हों यदा हमें व्यक्तियों की प्रेरणा का कारण

नहीं ढूँढ़ना है बल्कि बड़े जन-समूहों, जनताओं या जनताओं के अन्दर के बड़े गिरोहों या वर्गों की कामनाओं की प्रेरक-शक्ति को ढूँढ़ना है। भभककर तुरत बुझ जाने वाले कार्यों में हमारी दिलचस्पी नहीं है, बल्कि ऐसे कार्यों में जिनमें ऐतिहासिक परिवर्तन होते हैं। ऐतिहासिक कार्यों में निरत बड़े जन-समूहों या उनके नेताओं अथवा तथा कथित महापुरुषों की कामनाओं की साफ या धुंधली, सिद्धान्त या भावुकता से सनी हुई अज्ञात प्रेरक-शक्तिओं को ढूँढ़ने का काम ही वही रास्ता है, जिससे हम इतिहास के नियमों का पता लगा सकते हैं। जो कुछ भी मनुष्यों को गतिवान कर सकता है, वह उनके मस्तिष्क से ही होकर जायगा, परन्तु वह मस्तिष्क में क्या रूप लेगा यह परिस्थितियों पर आश्रित है। मजदूर आज भी पूंजीवादी व्यवस्था से सतुष्ट नहीं हैं पर जैसा कि उन्होंने १८४८ में र्‌हाईन प्रदेश में किया था उस तरह आज मशीनों को नहीं तोड़ते।

प्रेरक-शक्तियों और उनके परिणामों के अन्तर्सम्बन्ध के छिपे हुए और उलझे रहने के कारण इतिहास की इन प्रेरक-शक्तिओं का पता लगाना पहले असम्भव सा ही था, परन्तु आज हम इन्हें आसानी से समझ सकते हैं। बड़े पैमाने के व्यवसायों की स्थापना के बाद याने कम से कम १८१५ की शान्ति के बाद से किसी भी अंगरेज से यह छिपा न रहा कि वहां के सारे राजनैतिक संघर्ष ने धनी जमींदार और मध्यम वर्ग में प्रधानता के लिये चलने वाली होड़ का रूप ले लिया है। बर्बनों के लौटने के बाद से फ्रांस में यही हो रहा है। १८३० से दोनों देशों में मजदूर

वर्ग तीसरा प्रतिद्वन्द्वी मान लिया गया है। कम से कम इन देशों में परिस्थिति इतनी साफ हो गई है कि कोई भी आँख मूंद ले, तभी वह इन वर्गों के संघर्ष और उनके स्वार्थों के विरोध में वर्तमान इतिहास की प्रेरक-शक्ति को नहीं देखेगा।

परन्तु ये वर्ग बने ही कैसे ? मोटे तौर पर दृष्टि दौड़ा, पहले यह कहा जा सकता था कि सामंतों की जमींदारी का जन्म राजनैतिक कारणों से हुआ, याने उन्होंने बल से जमीन दखल कर ली परन्तु बुर्ज्वा या प्रोलेतारियत के बारे में तो ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनका जन्म और विकास साफ-साफ आर्थिक क्षेत्र में हुआ है। सामंतशाही और बुर्ज्वा तथा बुर्ज्वा और प्रोलेतारियत के संघर्ष में यह साफ हो गया कि उसका प्रधान लक्ष्य आर्थिक स्वार्थ था, इसी स्वार्थ की सिद्धि के लिये वे राजनैतिक सत्ता भी काबू में करना चाहते थे। बुर्ज्वा और प्रोलेतारियत पैदा हुये आर्थिक परिस्थितियों या उत्पत्ति के तरीकों में परिवर्तन के कारण। गृह शिल्प से बड़े पैमाने के व्यवसाय, फिर भाप और अन्य यन्त्रों के प्रयोग; इस तरह उत्पत्ति के तरीकों में परिवर्तन हुये और इस परिवर्तन से दो नये वर्ग पैदा हो गये। बहुत से मजदूर एक जगह इकट्ठे हुये, उनमें काम का बँटवारा हुआ, एक मजदूर माल का एक छोटा भाग बनाने लगा। सामान ज्यादा बनने लगा। विनिमय का रूप बदल गया। एक स्थान पर आकर बुर्ज्वा द्वारा संचालित उत्पत्ति की नई शक्तियों, विनिमय के तरीकों का उस समय का पूर्व स्थापित व्यवस्था

के साथ मेल नहीं बैठने लगा। परन्तु यह व्यवस्था कानून से संपुत और इतिहास द्वारा सम्प्रतिष्ठित थी। सामंतशाही सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों और खास खास स्थानों को अनेक विशेष सुविधायें मिली हुई थीं। जिस उत्पत्ति की व्यवस्था का प्रतिनिधित्व सामंत या सरदार कर रहे थे उसके साथ, नयी उत्पत्ति की व्यवस्था ने, जिसका प्रतिनिधित्व बुर्ज्वा कर रहे थे, बगावत कर दी। परिणाम हम जानते हैं। इंगलैंड में धीरे-धीरे फ्रास में एक धक्के में ये जंजीरें तोड़ फेंकी गई। जर्मनी में यह काम चल रहा है। जैसे पहले विकास की एक सीढ़ी पर पुरानी पद्धति से नये उत्पत्ति के तरीकों का विरोध पैदा हो गया; उसी तरह अब उसका स्थान लेने वाला बुर्ज्वा-उत्पत्ति प्रणाली का बड़े व्यवसायों से विरोध पैदा हो गया है। इस व्यवस्था से बंधकर, पूंजीवादी उत्पत्ति के तरीके के छोटे दायरे में बड़े व्यवसाय एक ओर तो सर्वहारा की संख्या बढ़ा रहे हैं, दूसरी ओर न बिक सकने लायक सामानों का पहाड़ तैयार कर रहे हैं। ज्यादा पैदावार और व्यापक गरीबी एक दूसरे के कारण हैं, यही अजीब विरोध इस व्यवस्था का परिणाम है। इसलिये जमाने की मांग है कि उत्पत्ति के तरीकों में परिवर्तन कर उत्पत्ति की शक्तियों को उन्मुक्त किया जाय।

आधुनिक इतिहास में यह साबित किया जा सकता है कि सभी राजनैतिक संघर्ष असल में वर्ग संघर्ष हैं। सभी वर्ग संघर्षों का उनके राजनैतिक रूप के बावजूद-क्योंकि सभी वर्ग संघर्ष राजनैतिक संघर्ष हैं— अन्त में आर्थिक परिवर्तन ही उद्देश्य होता है। इसलिये यहां

राजनैतिक-व्यवस्था गौण है, आर्थिक सम्बन्ध ही प्रधान है। परन्तु परम्परागत विचार यही रहा है कि स्टेट प्रधान है, समाज की रूप रेखा इसीसे निर्धारित होती है। ऊपर से ऐसा मालूम भी होता है। जैसे किसी व्यक्ति के कार्यों की प्रेरक शक्तियाँ, उसके मस्तिष्क से होकर ही गुजरेंगी और वहीं उसकी इच्छायें उद्देश्य का रूप धारण करेंगी और उसे कार्य में प्रेरित करेंगी उसी तरह चाहे जो शासक हो समाज की आवश्यकतायें स्टेट की इच्छा से होकर गुजरेंगी, तभी उन्हें कानून के रूप में मान्यता प्राप्त होगी। यहाँ प्रश्न उठता है—स्टेट या व्यक्ति की इच्छा किससे बनी है और ये पैदा कहां से हुये ? क्यों यही वांछित है और कुछ अन्य नहीं ? इसकी खोज में हम लगें तो पता चलेगा कि आधुनिक इतिहास में स्टेट की इच्छा सचालित होती है समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं से, इस या उस वर्ग की प्रधानता होने से और सबसे अन्त में उत्पादक शक्तियों और विनिमय सम्बन्धों के विकास से।

यदि आज यह सत्य है तो प्राचीन काल में जब कि मनुष्य का आज से ज्यादा समय जीवनोपयोगी सामान को तैयार करने में लगता था यह और भी साफ रहा होगा। जब इस युग में प्रधान वर्ग के आर्थिक हितों की प्रतिछाया स्टेट है तो पहले तो और रहा होगा। पहले जमाने के इतिहास की खोजों से इसका पूरा समर्थन हो जाता है।

यही, व्यक्ति सम्बन्धी कानूनों में भी लागू है। असलियत में यह व्यक्तियों के मौजूदा आर्थिक सम्बन्ध को कानूनी रूप दे देता है।

आन्तरिक और बाह्य आक्रमण से बचाव के लिये समाज राज्यसत्ता कायम करता है। धीरे-धीरे राज्यसत्ता अपने को समाज से अलग करती जाती है। जितना ही अलग करती है उतना ही यह एक विशेष वर्ग का अस्त्र बनता जाती है और उस वर्ग की प्रधानता को मजबूत करती है। इसलिये अधिकारी वर्ग के साथ पीड़ित जनता की लड़ाई का रूप राजनैतिक हो जाता है। उस वर्ग की राजनैतिक प्रधानता मिटाकर ही अधिकार लिया जा सकता है। अक्सर ऐसे राजनैतिक संघर्षों की आर्थिक जड़ों को लोग भूल जाते हैं। खासतौर से पेशेवर राजनीतिज्ञ, *वैधानिक कानून बनाने* वाले, आर्थिक सम्बन्धों को एक दम ही भूल जाते हैं।

समाज की भौतिक अवस्था से इनसे भी ज्यादे दूर हटे हुये, दर्शन और धर्म का आर्थिक भित्ति एकदम ही साधारणतया लोग नहीं देख पाते। यहाँ यह सम्बन्ध उलझा हुआ है, पर है निश्चय ही। जैसे १५वीं सदी के मध्य से पूरा पुनर्जागरण का युग असलियत में शहर या बुर्ज्वा की पैदावार था उसी तरह जागरण का दर्शन भी उसी की पैदावार था।

धर्म का भी ऐसा ही इतिहास है। उसे यहाँ विस्तार से देने का स्थान नहीं है। अंत में जाकर धर्म शुद्ध विचार-क्षेत्र में आ जाता है। १८४८ में शिक्षित जर्मनी ने सिद्धान्तों से विदा ली और जर्मन दार्शनिक व्यवहार क्षेत्र में उतर आये। जर्मनी ने संसार के बाजार में प्रवेश किया। पर बुर्ज्वा के लिये दर्शन का मंदिर शेयर मार्केट बना। निर्मम दर्शन का क्षेत्र अब सिर्फ मजदूर-वर्ग के पास है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद (एंगेल्स के शब्दों में)

मुझे विश्वास है, इगलैंड के निवासी मुझे माफ करेंगे यदि मैं उनके समाज के विकास को ऐतिहासिक भौतिकवाद का नाम दूँ।

यूरोप जब मध्यम युग से आगे बढा तो शहरों का उन्नतिशील मध्यम वर्ग एक क्रांतिकारी वर्ग था। उस समय कारीगर लोग दीवारों से घिरे हुये सुरक्षित स्थानों में रहते थे। ऐसी जगहों को फ्रांसीसी भाषा में बुर्ज, जर्मन में वर्ग तथा अंग्रेजी में बौरो कहते हैं। इसीसे इनमें रहनेवाले व्यापारी और कारीगर को बुर्ज्वा कहा जाने लगा। आगे चलकर इन्हीं के नेतृत्व में सामतों से युद्ध हुआ। दिहातों से सामन्तों की गुलामी से ऊब कर खेतों को छोड़ लोग मजदूरी करने यहा आने लगे। उनका नाम पड़ा 'प्रोलेतारियत'। लैटिन भाषा में 'प्रोल' का अर्थ है 'सतान'। यद्यपि ये सर्वहारा थे फिर भी इनका महत्त्व कितना ज्यादा था, यह इस नाम से ही पता चलता है।

शहरों का यह मध्यम वर्ग अपना काम आजादी से नहीं चला सकता था। चारों ओर सामंतशाही-युग के बंधनों से यह जकड़ा था। इसलिये इस संघर्ष में उतरना पड़ा। पर उस समय सबसे बड़ा संस्था रोमन कैथोलिक चर्च थी। ईसाई संसार का तीसरा भाग इसके अधिकार में था। सारे यूरोप में इसका जाल बिछा हुआ था। इसलिये इसके केन्द्रीय संगठन को छिन्न भिन्न करना पहला आवश्यकता थी।

इसी समय विज्ञान भी आगे बढ़ा। व्यावसायिक पैदावार के विकास के लिये वस्तुओं का रूप और गुण जानना आवश्यक था। पर विज्ञान इसके पहले चर्च का दास था। इसलिये यह एक तरह से विज्ञान ही नहीं था। अब विज्ञान ने अपने बंधनों को तोड़ फेंका और चर्च का विद्रोही बन गया। बुर्ज्वा और विज्ञान दोनों साथी बने।

आम जनता भी पीड़ित थी। किसान गुलामी की जंजीरों में जकड़े थे। विश्वविद्यालय से उत्पन्न हुआ धार्मिक विद्रोह और बुर्ज्वा की बगावत ने इन किसानों को भी हलचल में आकृष्ट किया।

बुर्ज्वा की इस लम्बी लड़ाई की तीन बड़ी घटनायें हैं। पहली है जर्मनी का प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन। लूथर के धार्मिक विद्रोह के परिणाम स्वरूप दो राजनैतिक ढंग के युद्ध हुये। एक तो १५२३ में और दूसरा १५२५ में जो किसान-विद्रोह के नाम से प्रसिद्ध है। पर लूथरवादी राजनैतिक प्रश्नों में क्रान्तिकारी नहीं थे। इनके नेता बड़े लोग थे। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी २०० वर्ष तक स्पर्धा के अन्तः कलह में डूबा रहा

पर जिसे लूथर ने पूरा नहीं किया उसे कैलविन ने पूरा कर दिया। हिन्दुस्तान और अमेरिका का मार्ग खुल चुका था। कैलविन के चर्च का संगठन पूरा-पूरा प्रजातंत्रात्मक था। अगर ईश्वर के राज में प्रजातंत्र चल सकता है तो फिर सांसारिक राजाओं और सरदारों का क्षेत्र उसके प्रभाव से कैसे बचता। कैलविन के अनुयायियों ने इंगलैंड में प्रजातन्त्र की स्थापना की और इंगलैंड तथा स्काटलैंड में इसी आधार पर नयी पार्टियां बनीं।

इंगलैंड के बुर्जा वर्ग ने इसे अपनाया। वे नेता बने और किसान सैनिक। आश्चर्य की बात है कि तीनों बुर्जा-क्रांतियों में किसानों ने खून बहाये, लड़े पर विजय के बाद उन्हें ही चूसा गया। क्रौमवेल के १०० वर्ष बाद इंगलैंड के प्राचीन किसानों का वर्ग करीब-करीब समाप्त हो गया। यदि शहरों के गरीब और देहातों के किसान न होते तो कभी चार्ल्स प्रथम को फांसी के तख्ते पर नहीं लटकाया जा सकता था। १७७९ में फ्रांस में और १८४८ में जर्मनी में भी यही हुआ। इसलिये इन नेताओं को अपने उद्देश्यों को विस्तृत करना पड़ा।

क्रांति की विशेष तीव्रता के कारण, प्रतिक्रिया फैली और वह भी सीमा से बाहर चली गई। इस तरह की डँवाडोल परिस्थिति से समाज की रक्षा के लिये नये आकर्षण का केन्द्र बनाना जरूरी हो गया। फिर यहीं से नये सिरे से समाज का विकास होने लगा। उन्नतिशील मध्यम वर्ग ने सामंत वर्ग से समझौता कर लिया। सामंत वर्ग, बुर्जा दल में शामिल हो गया। फ्रांस में आगे चल कर 'लुई फिलिप' सबसे बड़ा

बुर्ज्वा बना। इंगलैंड के जमींदारों ने किसानों को भगा कर खेतों में भेड़ पालने शुरू किये। हेनरी आठवें के समय से ही अङ्गरेजी अमीर सामंत जोरों से व्यापार में भाग लेने लगे। इसलिये १६८९ के सममौता में कोई दिक्कत न हुई। राजनैतिक नेता पुराने जमींदार के परिवार ही रहे, पर राष्ट्र की नीति नये वर्ग की भावना से निर्धारित होने लगी। इसमें जमींदारों का अपना भी स्वार्थ था। दूसरा, बुर्ज्वा के लिये भी यह आवश्यक था कि मजदूर का ज्यादा से ज्यादा वह शोषण कर सके। वे उसके आधीन रहें। उसने देखा कि इसमें धर्म उसे बड़ी सहायता देता है। ईश्वर ने जिन्हें बड़ा बनाया है, उनकी आज्ञा मानना धर्म सिखाता है। शोषित वर्ग को काबू में रखने में, धर्म से बुर्ज्वा को सहायता मिली। हॉब्स का भौतिकवाद बड़े लोगों की गोद में पलने लगा और वह राजवश का समर्थक बन गया। इसलिये, और भौतिकवाद का धर्म-विरोधी भावना के कारण प्रोटेस्टेन्ट, जिन्होंने स्टुआर्ट के विरुद्ध बगावत का झंडा खड़ा किया था, क्रांति से अलग हो गये। आज भी महान लिबरल पार्टी के आधार वे ही हैं।

इसी समय यह भौतिकवाद इंग्लैंड से फ्रांस गया। पहले वहाँ भी यह बड़ों के महलों में सीमित रहा पर थोड़े ही दिनों में इसका क्रांति-कारी रूप ऊपर हो गया। अपनी आलोचना का क्षेत्र धर्म से विस्तृत कर इसने समाज के सभी क्षेत्रों में फैला दिया। ये भौतिकवादी दार्शनिक, मध्यवर्गी नवयुवकों के नेता बने। इस तरह इंग्लैंड के राजवंशवादियों द्वारा पालित

विचारधारा ही फ्रांसीसी क्रांति का आधार बनी। इसीके झंडे के नीचे उन्होंने मानव-अधिकारों की घोषणा की।

बुर्ज्वा-क्रांति की तीसरी बड़ी घटना फ्रांसीसी क्रांति है। पहले पहल इसीने धर्म के आवरण को उतार फेंका और विशुद्ध राजनैनिक आदर्शों से प्रेरित हुई। इसमें करीब-करीब अमीर सामंतों का सम्पूर्ण नाश हो गया और बुर्ज्वा वर्ग विजयी होकर निकला। इङ्गलैंड में समझौते के कारण कानून, अदालत और धर्म के पुराने रूप बने रहे। फ्रांस में दीवानी कानूनों का नया कोड बना। यह कोड पूँजीवादी व्यवस्था के इतना उपयुक्त था कि आगे चलकर सारे संसार ने इसे अपनाया।

अंगरेजी बुर्ज्वा ने इसके विरुद्ध अपना अस्त्र उठाया और यूरोप के राजाओं से मिलकर इसने फ्रांस के समुद्री व्यापार और उपनिवेशों को खतम कर दिया। फ्रांस फिर समुद्री शक्ति में इङ्गलैंड की बराबरी नहीं कर सका।

इङ्गलैंड में वाट, आर्कराइट, कार्टराइट वगैरह के कारण व्यावसायिक क्रांति का सूत्रपात हुआ जिसने समाज का आर्थिक केन्द्र ही बदल दिया। बुर्ज्वा का धन प्रचण्ड वेग से बढ़ चला। १६८९ के समझौते से अब काम चलना सम्भव नहीं था। १८३० का बुर्ज्वा शक्तिशाली हो गया था। इसलिये फिर संघर्ष प्रारम्भ हुआ। रिफार्म एक्ट, रिपील आफ कार्न लौज बुर्ज्वा ने हासिल किये और इसकी राजनैतिक शक्ति जबर्दस्त हो गई। पर अब एक नया दल इसका प्रतिस्पर्धी में खड़ा हो गया।

कारखानों की वृद्धि के साथ मजदूरों की संख्या भी बढ़ रही था। १८२४ में ही इसने अपनी ताकत दिखा दी, जब पार्लामेंट को मजबूर होकर मजदूरों के संगठन के बाधक कानूनों को रद्द करना पड़ा। १८३२ में जब मजदूरों को वोट नहीं मिला तो इन्होंने अपनी मांगों को पिपुल्स चार्टर में दर्ज कर नयी पार्टी बनाई। आधुनिक युग में यही चार्टिस्ट पार्टी पहली मजदूर पार्टी है।

इसके बाद ही १८४८ की क्रांतिया हुईं जिसमें मजदूरों ने खास हिस्सा लिया। पेरिस में तो इन्होंने अपने वर्ग की मांग भी अलग से रखी। फिर प्रतिक्रिया शुरू हुई। १० अप्रैल १८४८ को चार्टिस्ट लोग हारे और उस वर्ष जून में पेरिस के मजदूरों की बगावत भी कुचल दी गई। १८४९में इटली, हंगरी, दक्षिण जर्मनी में क्रांतिया कुचल दी गई और दूसरी दिसम्बर १८५१ को लुई बोनापार्ट ने पेरिस पर विजय हासिल की। मजदूरों के हौसले कुचल दिये गये पर कितनी कठिनाइयों से? बुर्ज्वा की आँखें खुलीं और उसने धर्म का दामन और जोरों से पकड़ा।

पर मध्ययुग में सामंत वर्ग का जितना दृढ़ और दीर्घकालीन अधिकार रहा, वैसा अधिकार बुर्ज्वा का कहीं नहीं हुआ। अमेरिका में सामन्तवर्ग कभी हुआ ही नहीं, वहाँ का इतिहास बुर्ज्वा के अधिकार से ही प्रारम्भ होता है। इसलिये वहाँ उनका शासन अत्यन्त दृढ़ है। परन्तु उनके द्वार पर भी मजदूर वर्ग खड़ा हो गया है। इंग्लैंड में तो बराबर, इनका काम समझौते से चला। फ्रांस में इनका अक्षुण्ण शासन एक तरह से तीसरे

प्रजातन्त्र के जन्म के बाद से ही प्रारम्भ होता है।

पर इङ्गलैंड में मजदूर दल न बढ़ सका। वह लिबरल दल के साथ होकर काम करने लगा। वोटों के लिये उनका आन्दोलन धीरे-धीरे बढ़ने लगा। जब कि लिबरल लोग बगलें झाँक रहे थे, डिजराइल ने टोरियों की तरफ से घर पीछे वोट देने की घोषणा कर दी। पहले तो यह शहर में ही सीमित रहा पर १८८४ में सारे देश में लागू हो गया। सीटों का भी फिर से बँटवारा हुआ। इसके परिणाम स्वरूप १५०—२०० जगहें ऐसी हैं, जहाँ से मजदूरों के प्रतिनिधि आ सकते हैं। पर पार्लामेन्टरी शासन, परम्परा के लिये आदर सिखानेवाला सबसे सुन्दर स्कूल है। मध्यम वर्ग ही जब अमीरों को आदर की दृष्टि से देखता था तो मजदूरों का क्या कहना। १५ वर्ष पहले ये ब्रिटिश मजदूर इतने भले आदमी की तरह अदब से व्यवहार करते थे कि जर्मन अर्थशास्त्रियों को अपने देश के समाजवादी-कीटाणु से भरे जर्मन मजदूरों की तुलना में उनकी भूरि भूरि प्रशंसा करनी पड़ी।

पर इङ्गलैंड के बुर्ज्वा दल ने और दूर तक देखा। चार्टिस्ट युग की भयंकरता को वह भूला नहीं था। उसने स्वयं बहुत से अधिकार मजदूरों को दे दिये।

इधर जर्मनी और फ्रांस के मजदूरों में समाजवाद का जोर बढ़ता जा रहा था। इन दशों में बुर्ज्वा ने धीरे धीरे सभी प्रकार के विचार स्वातन्त्र्य को तिलाञ्जलि दे दी और धार्मिक बन गया। पर समय हाथ से बह चुका

था। जिस धर्म के महल को उसने धूसरित करने को कुछ भी बाकी नहीं रखा था, उसे अब बनाना सम्भव नहीं था। ब्रिटिश बुर्ज्वा ने कहा— "मूर्खों, हमने तो तुम्हें २०० वर्ष पहले कहा था"।

जिस समाज की नींव हिल चुकी, उसे अब कोई नहीं बचा सकता।

एँगेल्स के भौतिकवाद पर स्फुट विचार

यदि यह पूछा जाय कि विचार और चेतना क्या हैं और कहाँ से पैदा हुये तो साफ मालूम हो जायगा कि ये मानव मस्तिष्क की उपज हैं। इसलिये मानव मस्तिष्क की उपज, प्रकृति को काट नहीं सकती, उन्हें उसके साथ चलना होगा।

यदि ससार को वस्तु स्थिति से समझना हो तो फिर दर्शन की क्या आवश्यकता? यह काम विज्ञान से पूरा हो जाता है।

प्रकृति के सभी दृश्य पदार्थ आपस में सम्बन्धित हैं। पर इन अंत सम्बन्धों को पूरा-पूरा बताना विज्ञान के लिये असम्भव है और सदा असम्भव रहेगा। यदि मानव-ज्ञान का इतना विकास हो जाय कि वह शारीरिक, मानसिक, ऐतिहासिक सब तरह के अंत सम्बन्धों को पूरा-पूरा बता सके, याने मानव-ज्ञान अपनी सीमा पर पहुँच जाय, और उसके अनुसार समाज का भी संगठन हो जाय, उस दिन इतिहास का विकास समाप्त हो जायगा। यह विचार ही अयुक्ति-संगत है।

इसलिए मनुष्य अपने सामने सदा एक विरोध पाता है। एक ओर तो वह इन अंत-सम्बन्धों को पूरा पूरा जानना चाहता है, दूसरी ओर अपनी और संसार की प्रकृति के कारण वह इसे कभी जान नहीं सकता। यह विरोध सिर्फ मनुष्य और संसार के स्वभाव में नहीं छिपा है, बल्कि यह सभी बौद्धिक प्रगति का प्रेरक है और इसका निपटारा रोज-रोज मानव ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास में हो रहा है।

डूरिंग का ख्याल है कि गणित की तरह हम एक पूर्व कल्पित संसार का स्कीम अपने दिमाग में तैयार कर ले सकते हैं। परन्तु वह भूल जाते हैं कि शुद्ध गणित भी आसमान से नहीं उतरा है। १० तक के अंक भी मस्तिष्क की उपज नहीं हैं। गिनने में सिर्फ वस्तुओं की *आवश्यकता नहीं होती, बल्कि इस योग्यता की भी* कि हम वस्तुओं को अन्य सब गुणों से खींच कर सिर्फ संख्या के क्षेत्र में ले आवें। ऐसा करना एक लम्बे ऐतिहासिक विकास के बाद ही सम्भव था। इसी तरह रूप का ख्याल संसार के अनुभव से ही पैदा हुआ। वास्तविक संसार को छोड़ कर गणित नहीं चल सकता। परन्तु इन रूप और गुणके नियमों को समझने के लिये इन्हें आगे चलकर लोग वस्तु स्थिति से अलग कर देखने लगे। इस तरह बिना लम्बाई-चौड़ाई के बिन्दु बना, बिना चौड़ाई और मुटाई के रेखा बनी...... इस तरह अब हम कल्पना के क्षेत्र में आ गये परन्तु यह पैदा हुआ था मनुष्यों की आवश्यकता से। जमीन नापने, जहाज का माल गिनने, समय का अवधि समझने, आदि भौतिक आवश्यकतायें थीं। पर

इन्हें आज हम भूल गये हैं और गणित को संसार से भिन्न अलग सत्ता रखने वाली चीज मानने लगे हैं।

ड्यूहरिंग—गति को मूल में यान्त्रिक गति समझते हैं इससे वह पदार्थ और गति का सम्बन्ध ही नहीं समझ पाते हैं। पहले के भौतिकवादी भी इसे समझ नहीं पाते थे। परन्तु यह अत्यन्त सरल है। गति के रूप में ही पदार्थ रहता है। (Motion is the mode of existence of matter) कभी पदार्थ बिना गति के न रहा है, न रहेगा। सब विश्राम या शांति, सापेक्ष है। एक गति दूसरे से कम वेगवान है। कोई वस्तु विश्राम की अवस्था में जमीन पर पड़ा हुआ मालूम पड़ सकता है पर पृथ्वी के घूमने के साथ वह भी तो घूम रहा है और साथ साथ उसके सूक्ष्म परमाणु सतत दौड़ धूप करते रहते हैं। बिना गति के न पदार्थ की कल्पना हो सकती है न बिना पदार्थ के गति का। इसलिये पदार्थ और गति दोनों अविनाशी हैं। दकार्ते ने कहा था, गति का परिमाण संसार में सदा एक सा रहता है। हम गति को पैदा नहीं कर सकते, उसे बदल सकते हैं।

मनुष्य के विचार सीमित भी हैं और असीम भी, सार्वभौम भी और असार्वभौम भी, फिर भी क्या ऐसे सत्य हैं जिनके बारे में कोई संदेह करना पागलपन है? दो-दो मिलाकर चार होते हैं, पेरिस फ्रांस में है, भोजन नहीं मिलने से आदमी मर जाता है, आदि सत्य कैसे हैं?

में वर्तमान है, जो बराबर विरोध को प्रकट करता है और सुलझाता है। जिस समय यह विरोध समाप्त हो जायगा, जीवन भी समाप्त हो जायगा।

सभी रुपया या अर्घ्य पूंजी नहीं है। पूंजी होने के लिये उसकी एक तायदाद होनी चाहिए, और उनका एक विशेष विनिमय-अर्घ्य होना चाहिए। यहा हम देखते हैं कि परिमाण गुण में बदल जाता है।

पूंजीवादी जमाने के पहले इंगलैंड में, उत्पत्ति के साधन में (श्रमजीवियों) का व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर व्यवसाय कायम था। इन्हीं उत्पादकों की सम्पत्ति छीन कर पहली पूंजी कायम हुई। याने परिश्रम से पैदा होने वाली दौलत का मालिक परिश्रम करने वाला नहीं रहा। उत्पत्ति के तरीकों में परिवर्तन से ही ऐसा सम्भव हुआ। उत्पत्ति के बिखरे हुये जरियों का नाश होकर उनका केन्द्रीकरण होने लगा। यही पूंजी का पूर्व इतिहास है। जैसे ही मजदूर सर्वहारा में, उनके परिश्रम के जरिये पूंजी में, बदल जाते हैं पूंजीवादी पैदावार की व्यवस्था अपने पैरों पर खड़ी होती है। श्रम का समाजीकरण और आगे बढ़ता है। व्यक्तिगत सम्पति रखने वालों की सम्पत्ति छीनने का क्रम व्यापक होता है।

मार्क्स कहते हैं—"अब जिनकी सम्पत्ति छीननी है, वे अपने लिये काम करने वाले मजदूर नहीं हैं बल्कि मजदूरों के शोषण करने वाले पूंजीपति। यह सम्पत्तिहरण पूंजीवादी उत्पत्ति के अपने नियमों के

गरे ही होता है। पूंजी केन्द्रीभूत होती है। एक पूंजीपति बहुतों खत्म करता है। इस केन्द्रीकरण और सम्पत्तिहरण के साथ-साथ दूरों का सहयोग बढता जाता है, मजदूर अकेले कुछ नहीं कर सकता, दूरों के समूह से ही कुछ हो सकता है। माने मजदूरों का समाजीकरण हो जाता है। एकाधिकार की प्रवृत्ति बढती है, पूंजीपतियों की संख्या ती है, दूसरी ओर समाज में गरीबी, अत्याचार, गुलामी, पतन, शोषण ता रहता है। परन्तु मजदूरों की सख्या बढने के साथ उनमें विद्रोह ज्वाला भी उत्तरोत्तर तीव्र होती जाती है। पूंजीवाद के कारण ही वे जगह बड़ी-बड़ी सख्या में इकट्ठे होते हैं। उनका सगठन बढता है। पत्ति के साधनों को पूंजीवादी व्यवस्था जंजीरों से कम देती है। उत्पत्ति साधनों का केन्द्रीकरण और श्रमिकों का समाजीकरण एक ऐसी अवस्था पहुँचता है जब उनका साथ रहना असम्भव हो जाता है। विद्रोह की ाला भभक उठती है। पूंजीवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति की अंतिम घड़ी जाती है। सम्पत्ति हारकों का सम्पत्तिहरण हो जाता है।

जैसे सामतशाही ने अपने नाश का सामान स्वयं तैयार किया, सी तरह पूंजीवाद भी अपने नाश का सामान स्वयं तैयार कर रहा है। रह तो इतिहास की धारा है। इसमें मार्क्स का क्या दोष ?

आखिर यह अभाव का अभाव (Negation of Negation) है क्या जिसमें ड्यूहरिंग साहब इतने नाराज हैं ? यह इतना सरल है

हाँ ऐसे सत्य हैं। विज्ञान के क्षेत्र में ही ऐसे अनेक सत्य हैं। पर उनका क्षेत्र बहुत ही सीमित है। सत्य और असत्य सापेक्ष हैं। भला और बुरा भी उसी तरह सापेक्ष हैं।

नैतिक क्षेत्र के भी सभी नियम सापेक्ष हैं। इनका आधार वर्ग भावना है।

व्यक्ति-गत सम्पत्ति के जन्म के साथ ही नियम बना "चोरी मत करो"। पूर्ण समाजवादी समाज में इस नियम का महत्त्व स्वयं नष्ट हो जायगा। एक वर्ग के लिये जो नैतिक है वही दूसरे के लिये अनैतिक है।

सर्वहारा के लिये समता का अर्थ है वर्ग-भेद का नाश। समता की कोई भी माँग जो इससे ज्यादा जाती है, बेकार है।

हीगेल ने ही पहले-पहल आजादी और आवश्यकता का सम्बन्ध ठीक-ठीक बताया। आवश्यकता की इज्जत करना ही आजादी है। प्राकृतिक नियमों से स्वतंत्र होने का स्वप्न देखना आजादी नहीं है, बल्कि इन नियमों का ज्ञान और उनका उचित दिशा में उपयोग। इच्छा की आजादी का सिर्फ इतना ही अर्थ है कि विषय का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर निश्चय करना। अज्ञान के कारण जो अनिश्चितता आती है उसके ही कारण ऐसा मालूम होता है कि बहुत से भिन्न-भिन्न प्रकार के और विरोधी सम्भव मार्गों में से कोई मनमाने ढंग से एक रास्ता चुन रहा है। ऐसी हालत में विषय पर अधिकार करने के

पहले विषय ही हम पर अधिकार कर लेता है। प्रकृति की आवश्यकता समझ कर अपने और बाह्य संसार पर अधिकार स्थापित करना ही आजादी है। शुरु में मनुष्य पशु की तरह गुलाम था। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य की आजादी विकसित होती गयी—मानव इतिहास के द्वार पर दो आविष्कार हम पाते हैं। (१) यांत्रिक क्रिया से गर्मी पैदा होती है। (२) रगड़ से आग पैदा होती है। आज इस युग के अंत में हम पाते हैं दो नये आविष्कार। (१) गर्मी यांत्रिक गति में बदली जा सकती है। (२) भाप के इंजिन। आज भाप की कितनी बड़ी शक्ति हो, उस युग में रगड़ से आग पैदा होने के आविष्कार ने मानवता की आजादी को और भी ज्यादा दूर आगे बढ़ा दिया था। इसने प्रकृति पर मनुष्य के अधिकार बहुत ज्यादा दृढ़ किये और मनुष्य और पशु के अंतर को विस्तृत किया।

मानव इतिहास अभी कितना छोटा बचा है! हमारे विचारों को पूर्ण सत्य मानना निरा लड़कपन है। अभी तो हमने सिर्फ भाप पाया है। अभी कितना और पाना बाकी है।

गति का अर्थ है विरोध। एक जगह पर कोई वस्तु है और नहीं भी है। इसी विरोध को प्रकट करना और सुलझाना ही गति है। यही अवस्था सारे पदार्थों की है। जीवित पदार्थ भी इस नियम से ऊपर नहीं है। प्रत्येक क्षण में एक पदार्थ अपने रूप में है भी और फिर उसी क्षण में वह बदल भी जाता है। जीवन भी एक इसी तरह का विरोध है, जो वस्तुओं और क्रिया

कि एक छोटा बच्चा भी समझ सकता है। एक गेहूं के दाने को जमीन में गाड़ दीजिये, वह सड़ जायगा, दाने का अभाव हो जायगा, और उससे पैदा होगा एक पौधा, फिर यह बढ़ेगा, फूल लगेंगे फल लगेंगे। पर जैसे ही गेहूं पकेगा, पौधा सूख जायगा। उसका अभाव हो जायगा। अभाव के अभाव से फिर गेहूँ हमें मिलेंगे पर एक नहीं, कई। इनकी जाति में भी सुधार होता जायगा। पर बहुत धीरे-धीरे। यदि हम डालिया या इस तरह के अन्य फूल लें तो इस अभाव के अभाव की क्रिया से सिर्फ हमें ज्यादा बीज ही नहीं मिलेंगे बल्कि उन बीजों के गुण भी अच्छे होंगे। यह सुधार बराबर होता जायगा। अंडे के अभाव से तितलियाँ पैदा होती हैं, वे बढ़ती हैं, सभोग-कृत्य करती हैं और उनका अभाव हो जाता है। सम्भोग-कृत्य की समाप्ति होते ही स्त्री अंडा देती है और दोनों मर जाते हैं। बहुत से पौधों और पशुओं में ऐसा नहीं होता है। पर हमारा मतलब सिर्फ यही दिखाने से है कि वनस्पति जगत और पशु जगत में भी ऐसा होता है।

यही गणित में भी होता है। हमलोग 'अ' लें। इसका अभाव करें, हुआ '—अ' फिर इसका अभाव कीजिए '—अ × —अ' हुआ अ २ याने पहले वाला 'अ' आ गया पर बड़ा होकर।

यही इतिहास में भी होता है। सभी सभ्य जातियाँ जमीन की सार्वजनिक मिल्कियत से अपना जीवन शुरू करती हैं। आदिम जमाने में खास स्थानों पर, कृषि और शिल्प का विकास होता है, सार्वजनिक मिल्कि-

यत, उत्पत्ति पर बधन बन जाती है। इसका नाश होता है, याने वह अभावित होता है। व्यक्तिगत-सम्पत्ति का जन्म होता है। एक जमाने के बाद जब उत्पत्ति के साधनों म काफी विकास हो जाता है, यही व्यक्तिगत सम्पत्ति, उत्पत्ति पर बधन बन जाता है। फिर इसके अभाव की याने इसे सार्वजनिक सम्पत्ति में बदलने की माग होती है। परन्तु पुरानी सार्वजनिक मिल्कियत क रूप अब लौट नहीं सकते। इसका रूप पहले से ज्यादा सुन्दर और सगठित होगा। उत्पत्ति पर बधन होने के बदले यह विज्ञान के नये से नये आविष्कारों स फायदा उठायगा। उत्पत्ति के सारे बधन टूट कर गिर पड़ेगे।

दर्शन लीजिये। आदिम युग का दर्शन प्राकृतिक भौतिकवादी था। पर तु यह चेतना और भौतिक पदार्थ का सम्बन्ध साफ नहीं कर सका। इससे शरीर से भिन्न आत्मा की भावना का उदय हुआ। फिर आत्मा के अमरत्व का कल्पना हुई और अत में इन आत्माओं की एकता की। इस तरह पुराने भौतिकवाद का स्थान लिया ब्रह्मवाद ने। जमाने की रफ्तार के साथ यह भी लचर मालूम पड़ा और फिर नये भौतिकवाद का उदय हुआ। याने उस अभाव का फिर अभाव हुआ। परन्तु यह भौतिकवाद वह पुरानी चीज नहीं है। विज्ञान, दर्शन और इतिहास के क्षेत्रों में पिछले २००० वर्षों में जो अनुभव हुए हैं वे इसमें शामिल है। एक अर्थ में यह दर्शन ही नहीं है। यह ससार का वैज्ञानिक परिचय है। दर्शन का रूप समाप्त हो जाता है पर उसका प्राण बना रहता है।

—लेनिन—

प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में क्रांतिकारी आविष्कार और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद।

(लेनिन के शब्दों में)

"प्राकृतिक विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में,"—डिनरडेन्स लिखते हैं—"बहुत सी नई बातों का आविष्कार हुआ है।" ये सब एंगेल्स के इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि प्रकृति में कहीं ऐसे विरोध नहीं हैं जिनका सामंजस्य न हो सके। न ऐसी निश्चित सीमा-रेखायें ही हैं, जो बराबर के लिये वस्तुओं को एक दूसरे से अलग कर दें। यदि प्रकृति में हमें विरोध या अन्तर मिलता है, तो इसलिये कि हमने प्रकृति पर यह बन्धन और विच्छिन्नता डाला है, जैसे, अब यह पता चला कि प्रकाश और विद्युत् प्रकृति की एक ही शक्ति के दो भिन्न रूप हैं। रोज रोज इसकी सम्भावना बढ़ती जा रही है कि रासायनिक क्रियायें भी विद्युत्-शक्ति के दायरे में चली आयेंगी। विश्व की एकता का व्यंग करते हुए जिन अविभाज्य और असंयुक्त रासायनिक तत्त्वों की संख्या बढ़ती चली जा रही थी, वे सभी आज

विभाज्य और संयुक्त साबित हो गये। रेडियम तत्त्व हीलियम में परिवर्तित किया जा सकता है यह विज्ञान ने प्रमाणित कर दिया है।"

डिनरडेन्स कहते हैं—"विज्ञान के नये अनुसंधान, कितने जोरों से एँगेल्स के इस वाक्य का कि—'गति के रूप में ही पदार्थ रहता है' समर्थन कर रहे हैं।" प्रकृति के सभी पदार्थ गतियों के विभिन्न रूप हैं। इनमें अन्तर का कारण यही है कि, हम मानव प्राणी, इन गतियों को, विभिन्न इन्द्रियों से विभिन्न गुणों के रूप में पकड़ पाते हैं। एँगेल्स ने जैसा कहा था, इतिहास की तरह प्रकृति भी द्वन्द्वात्मक गति के अधीन है।

दूसरी ओर बहुत से ऐसे लेख हैं, जहाँ आपको नये पदार्थ विज्ञान की ओर से बड़े जोरदार शब्दों में लिखा हुआ मिलेगा कि भौतिकवाद खाम हो गया। उनका यह दावा सत्य है या बेबुनियाद यह और प्रश्न है। परन्तु नये पदार्थविज्ञान, अथवा नये पदार्थ-विज्ञान की एक शाखा में और आदर्शवादी दर्शन में सम्बन्ध है इसमें कोई शक नहीं। आधुनिक आदर्शवादी दर्शन का विश्लेषण करते समय, नये वैज्ञानिक अनुसधानों से आँख मूंद लेना, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्राण को हनन करना है। एँगेल्स के शब्दों को पकड़े रहने का अर्थ है, उनकी पद्धति को तिलाञ्जलि देना। एँगेल्स ने स्वयं जोरदार शब्दों में कहा है कि प्रत्येक बड़े अनुसधान के साथ प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी भौतिकवाद के रूप को बदलना पड़ेगा। इसलिये एँगेल्स के भौतिकवाद के रूप का पुनर्संस्करण अथवा उनके प्राकृतिक दार्शनिक निष्कर्षों का पुनर्संस्करण मार्क्सवाद का पुनर्संस्करण नहीं है, बल्कि मार्क्सवाद का माग

है। हम मार्क्स की आलोचना इस तरह के पुनर्संस्करण के लिये नहीं करते बल्कि इसलिये कि वे या उनके जैसे लोग भौतिकवाद के रूप के सुधार की आड़ में उसके प्राण को ही खत्म करने लगते हैं और प्रतिक्रियागामी मध्य मवर्गीय दर्शन का दुनियादी को अपना लेते हैं। वे एंगेल्स के निर्णयात्मक दावों को ठीक-ठीक समझने का प्रयत्न नहीं करते। एंगेल्स के प्राकृतिक दार्शनिक निष्कर्षों से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हैं एंगेल्स के ये दावे जैसे

"पदार्थ के बिना गति अचिन्त्य है।"

(ख)

पदार्थ के एलेक्ट्रन के सिद्धान्त ने लेवाजियर के सिद्धान्त को याने घन (Mass) के स्थायित्व (Conservation) के सिद्धान्त को, खत्म कर दिया। इस नये सिद्धान्त के अनुसार परमाणु, अत्यन्त सूक्ष्म विद्युत कणों से बने हैं, जिनमें ऋण और धन दोनों तरह की विद्युतधारायें हैं। वैज्ञानिकों ने खोज से विद्युत कणों और उनके घनों की गतियों को आँकने का पद्धति निकाली है। उनकी गति प्रकाश की गति की रेखा में आ जाती है जैसे, प्रकाश की गति की तिहाई पर ये पहुँच जाती हैं। इस परिस्थिति में यह देखना जरूरी हो जाता है कि निश्चलता की प्रवृत्ति (Inartia) को काबू में लाने की आवश्यकता को देखते हुए एलेक्ट्रन के दोहरे घन (Mass) का, क्या प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से यह पता चलता है कि एलेक्ट्रन का घन (Mass) शून्य के बराबर है। एलेक्ट्रन का घन, (Mass) पूरा का पूरा विद्युत शक्ति मात्र है। घन (Mass) खत्म हो जाता है तो

यान्त्रिक विज्ञान की जड़ें हिल जाता है। इसलिये आधुनिक पदार्थ विज्ञान वादियों का यह कहना है कि नये अनुसन्धानों ने पदार्थ को खत्म कर दिया।

वे लिखते हैं, "पदार्थ-विज्ञान जब उच्च गणित में मिल जाता है तो वैज्ञानिक अत्यन्त सूक्ष्म एकांगी अभिसिद्धान्तों की दुनियाँ में चला जाता है। वैज्ञानिक का संबन्ध घटनाओं से न रहकर दिमागी चेत्र से हो जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि वस्तु को छोड़ उसके गुण और उसकी गति की अलग दुनियाँ खड़ी हो जाती है। पदार्थ-विज्ञान के सिद्धान्त गणित के प्रतीकों का रूप धारण कर लेते हैं। इसलिये पदार्थ-विज्ञान वास्तविक जगत से दूर चला जाता है और उसमें संकटकाल उपस्थित हो जाता है।"

प्राकृतिक—वैज्ञानिक आदर्शवाद का प्रधान कारण यही है। विज्ञान के ऐसे विकास ही प्रतिक्रिया-गामी विचारों को पैदा होने का मौका देते हैं। विज्ञान आज उस स्थान पर पहुँच गया है, जहाँ मूल पदार्थ इतने सम और सहज हो गये हैं कि उनकी गतियों को हम गणित की गतियों के दायरे में ला सकते हैं। इसलिये गणित-शास्त्रज्ञों को यह मौका मिला है कि व कह कि सिर्फ अंक और उनकी गणना बच रही है, उनके पीछे कहीं कोई पदार्थ नहीं है। बहुत से लोग नये पदार्थ विज्ञान के आदर्शवादी झुकाव पर बहुत प्रसन्न हैं। थोड़े से विशेषज्ञों की यह प्रसन्नता अस्थायी है। हमें इस बात पर आश्चर्य है कि किस तरह डूबता हुआ मनुष्य एक तिनके को भी सहारा मानकर पकड़ता है। धनी वर्ग के शिक्षित प्रतिनिधि अशिक्षित जनता को भुलावे में रखने के लिये किस तरह लचर से लचर सिद्धान्तों का सहारा लेते हैं।

आधुनिक पदार्थ विज्ञान प्रसव पीड़ा की अवस्था में है। वह जन्म दे रहा है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को। परन्तु प्रसव पीड़ा बराबर दुखदायी होती है। स्वस्थ सन्तान के पैदा होने के साथ-साथ बहुत से मृत और कंकड़ भी पैदा हुए जिन्हें कूड़ों के ढेर पर फेंक देना होगा।

नये पदार्थ विज्ञान से किस तरह के दार्शनिक सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं, इसकी चर्चा अंगरेजी, जर्मन और फ्रेंच साहित्यों में हो रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह अन्तर्राष्ट्रीय धारा है। यह उन कारणों पर आश्रित है जो दर्शन के क्षेत्र के बाहर पैदा होते हैं। जैसा दर्शन में, वैसा ही पदार्थ विज्ञान में माख की तरह के लोग नये-नये फैशनों की नकल करने लगते हैं। ये मार्क्सवाद के मौलिक सिद्धान्तों को समझकर नयी विचार धाराओं के मूल्यों को आँकने का प्रयत्न नहीं करते।

प्रत्येक मार्क्सवादी का यह धर्म है कि वह नये विचारों का अध्ययन करे और उनमें से उपयोगी विचारों को अपनावे। नये विचारों का अगर हम अध्ययन नहीं करेंगे, तो संसार की प्रगति के साथ कदम मिलाकर नहीं चल सकेंगे। परन्तु इनका अध्ययन करते समय हमें प्रतिक्रिया गामी विचारों और क्रांति विरोधी प्रभावों को छाँटते जाना चाहिये। यह काम माख की तरह के लोग नहीं कर सकते। वे प्रतिक्रिया गामी लेखकों के विचारों की नकल करने लगते हैं। कहते तो लोग यह हैं कि हम खोज रहे हैं, परन्तु ये खोज नहीं करते बल्कि नये फैशन के विचार उड़ खोजकर उनके सर पर सवार हो जाते हैं। ये अपने सिद्धान्तों को लेकर मध्यवर्गीय दार्शनिक विचारों का

विश्लेषण नहीं करते बल्कि ऐसे प्रचलित विचार उन्हें बाँध लेते हैं।

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का अन्तर इन बातों के जवाब में कि ज्ञान का आधार क्या है और ज्ञान का इस भौतिक संसार से क्या सम्बन्ध है ? पदार्थ, परमाणु और एलेक्ट्रनों की बनावट कैसी है, इसका सम्बन्ध सिर्फ इस भौतिक जगत से है। जब वैज्ञानिक कहते हैं कि पदार्थ (Matter) अब नहीं रहा; तो उनके कहने का अर्थ यह है कि अबतक वैज्ञानिक संसार के मूल में जिन तीन तत्वों (पदार्थ, विद्युत, ईथर) को वे मानते थे, उनमें अब केवल विद्युत रह गया, इसलिये कि पदार्थ (Matter) को अब विद्युत में परिवर्तित किया जा सकता है। परमाणु की व्याख्या एक अत्यन्त सूक्ष्म सौर-मंडल की तरह की जा सकता है जिसके अन्दर घन विद्युत कण के चारों ओर ऋण-विद्युत कण घूमते रहते हैं। सारे विश्व के मूल में विद्युतकण ही हैं; ऐसा कहा जा सकता है। इससे विश्व की एकता और दृढ़ भूमि पर स्थापित होती है। यही नये अनुसन्धानों का सही अर्थ है, जो बहुतों को विभ्रम में डाल रहा है। "पदार्थ का लोप हो रहा है," का अर्थ यही है कि अब तक जिन सीमाओं के अन्दर हम पदार्थ को जानते थे वे अब टूट रही हैं और हमारा ज्ञान गहरा होता जा रहा है; पदार्थ के वे गुण, जो पहले अनाश्य, अविच्छिन्न और भेदहीन दिखाई पड़ते थे अब प्रासंगिक और एक विशेष अवस्था के ही मालूम पड़ते हैं। परन्तु इससे भौतिकवाद को क्या ? दार्शनिक भौतिकवाद पदार्थ के केवल एक ही गुण से सम्बन्ध रखता है, याने उसका हमारे अन्तर से बाहर अपनी सत्ता रखना।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद स्वयं इस बात पर जोर देता है कि पदार्थ की बनावट और गुण के विषय में जिस युग के जो भी विचार हैं, वे सापेक्ष और सीमित ही हैं। इसका दावा है कि प्रकृति में कहीं भी सीमा-रेखायें नहीं हैं, पदार्थ एक अवस्था से दूसरी अवस्था में, एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। विद्युत् कणों में घन (Mass) का न होना, न्यूटन के गति नियमों का केवल एक ही क्षेत्र में लागू होना आदि साधारण बुद्धि से कितने भी आश्चर्यजनक हों, पर वे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुकूल हैं। चूंकि पदार्थ वैज्ञानिकों ने कभी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को समझने का प्रयत्न नहीं किया इसलिये ये नये अनुसन्धान उन्हें आदर्शवाद की ओर भटका ले गये। वे जिसका विरोध कर रहे हैं, वह पुराना भौतिकवाद है जिसका स्वयं मार्क्स ही विरोध कर चुके हैं। अबतक पदार्थ के जिन गुणों और तत्त्वों को हम जानते हैं, उनकी अकाट्यता को इनकार करते हुए, इन नये दार्शनिकों ने विश्व की वास्तविकता को ही इनकार कर दिया। न्यूटन के प्रसिद्ध नियमों की सर्वव्यापकता को इनकार करते हुए इन्होंने प्रकृति में नियमबद्धता होने को ही इनकार कर दिया। वे कहने लगे कि प्रकृति के सभी नियम केवल कल्पना आरोपित हैं अथवा पिछले अनुभवों के आधार पर सम्भाव्यता अथवा तार्किक आवश्यकताएं हैं, इत्यादि। हमारा ज्ञान सापेक्ष और सीमित है इस पर जोर डालते डालते यह कहने लगे कि मानव-अन्तर से बाहर कोई सत्ता ही नहीं।

एंगेल्स की दृष्टि से मनुष्य की चेतना से स्वतन्त्र, पदार्थों की सत्ता है जिसका होना, या घटना-बढ़ना मनुष्य के मस्तिष्क पर निर्भर नहीं करता। यही भौतिकवाद का प्रधान आधार है। इसके अलावे पदार्थों के गुण, बनावट आदि के विषय में जो कुछ भी कहा जाय वह ज्ञान के विकास के साथ बदलता रहेगा। पदार्थों के मूलतत्त्व और उनके नियम भी सापेक्ष हैं। उनके विषय में जब जो कहा जायगा वह उस युग के ज्ञान की सीमा से सीमित रहेगा। कल ज्ञान की सीमा परमाणु के परे नहीं जाती थी आज एलेक्ट्रन के परे नहीं जाती। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दावा है कि इस तरह के सभी ज्ञान सापेक्ष, और सीमित हैं, ज्ञान की विकास-धारा में ये मील के पत्थर हैं।

—:०:—

अध्यात्मवाद और भौतिकवाद

दर्शन और विज्ञान की प्रगति, पदार्थ और चेतना की उन सीमान्तक रेखाओं को छू रहा है, जिनने अब तक विश्व के दर्शन को दो रूपों में बाँट रखे थे। ऐसा मालूम होता है कि वह समय अब निकट आ रहा है जिसके लिये पिछले दो हजार वर्षों से दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रयत्न कर रहे थे, यानी, दृश्यमान अनेकता के बीच में मौलिक एकता की स्थापना। भारतीय दर्शनकार और ग्रीस के प्राचीन दार्शनिकों ने कल्पना की दौड़ान में जिसकी धुँधली रेखा देखी थी, वह सम्भवत अब निर्विवाद सत्य के रूप में विश्व ज्ञान का प्रधान स्तम्भ बनेगा।

विज्ञान ने पूरी अठारहवीं सदी पदार्थों की एकता स्थापित करने में लगायी और उन्नीसवीं सदी शक्तियों की एकता को स्थापित करने में। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही जब परमाणु विद्युत्-कणों में तोड़ दिये गये तो पदार्थ और शक्ति का एकता स्थापित हो गई, क्योंकि एक तरफ ये ही विद्युत-कण एक धारा में परमाणु, फिर मूल तत्त्व, आदि की श्रेणी में दृश्यमान भौतिक पदार्थों की सृष्टि करते हैं, दूसरी ओर ये ही विद्युत-कण, विद्युत्, चुम्बकत्व आदि शक्तियों की रचना करते हैं। अजीवन की धारा में कोई लड़ी अज्ञात नहीं रह गयी।

परन्तु, जीवन और अजीवन की सीमान्तक-भूमि पर अभी तक अन्धकार के पर्दे पड़े हुये हैं। हाँ यह रेखा भी अब केवल प्रोटोप्लाज्म[1] की बनावट में सिकुड़ गयी है। यह इतनी पतली रेखा है कि जीवन और अजीवन के जगत एक दूसरे को देखते हुये से मालूम पड़ते हैं।

राष्ट्र या युग या ज्ञान, सबों की सीमान्तक रेखायें आकर्षक और खतरों से भरी हुई होती हैं। अब जब बीसवीं सदी का उत्तरार्ध चेतन और अचेतन की अन्तिम सीमान्तक रेखा से टकरा रहा है, विश्व का दर्शन उत्फुल्ल होने के साथ एक बार फिर रहस्यमय बन गया है।

मार्क्स के दर्शन को यदि जिन्दा रहना है तो उसे विज्ञान की हर प्रगति के साथ कदम में कदम मिला कर चलना ही होगा। लेनिन ने १९०७ में ही कहा था;—

"मार्क्सवाद को हम किसी भी अर्थ में ऐसा पूर्ण, जिसमें कभी परिवर्तन का आवश्यकता ही न हो, मानने को तैयार नहीं। बल्कि हमलोगों का निश्चित मत है कि मार्क्सवाद उस विज्ञान की आधार शिला है जिसे समाजवादियों को हर दिशा में विकसित करना है, अन्यथा वे जीवन की प्रगति के साथ कदम मिलाकर नहीं चल सकेंगे"[2]

---

१ प्रोटोप्लाज्म — एक तरह का रासायनिक मिश्रण है जो जीवन कोषों का आधार है। इसका पूर्ण विश्लेषण वैज्ञानिक नहीं कर सके हैं, और न इसे वे रसायन-शाला में बना ही सकते हैं।

२ "In no sense do we regard the Marxist theory as ...plete and unassailable on the contrary ...r the corner stone ...vance in all direc- ...ife"—Lenin

लेनिन के ही जमाने में विद्युतकण का आविष्कार हो चुका था और बहुत से लोग कहने लगे थे कि जब ठोस परमाणु, जो स्थान घेरता था और जिसका कोई वजन था, खतम हो गया, तो भौतिकवाद की जड़ ही कट गयी। लेनिन को यह कहना पड़ा कि दार्शनिक मैटर का उस मैटर से कोई ताल्लुक नहीं जो स्थान घेरता है। दार्शनिक मैटर एक अभिसंज्ञा (Concept) है जिसका अर्थ है मानव चेतना के बाहर, वस्तु की स्वतंत्र स्थिति।[३] वह स्थिति मूल में तरंगमय है या ठोस, इससे दार्शनिक मैटर को कोई मतलब नहीं। ज्ञान का प्रगति मैटर का जो भी रूप विश्व के सामने रखेगी दार्शनिक मैटरवादी उस ही स्वीकार करेंगे।

मैटर की ऐसी व्याख्या को ही दृष्टि में रखकर श्री अरविन्द ने कहा है—"यह स्पष्ट है कि मैटर इन्द्रिय ज्ञान से परे है। साख्य के प्रधान की तरह यह मूल तत्त्व का अभिसांज्ञिक (Conceptual) रूप है। ऐसी जगह हम पहुँच गये हैं जहां मूल तत्त्व और मूल शक्ति के रूपों के बीच केवल काल्पनिक विभेद रह गया है।"[४]

---

३ "The concept is matter Matter is a philosophical category designating the objective reality which is given to man by his sensations "

Lenin Materialism and Empirio criticism P 84

४ For it will be evident that essential matter is a thing non existent to the senses and only like the Pradhana of the Sankhyas a conceptual form of substance and in fact a point is increasingly reached where only an arbitrary distinction in thought divides form of substance from of energy ' The Life Divine, Vol 1 P 17

परन्तु श्री अरविन्द ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि मैटर भी उतना ही सत्य है जितना आत्मतत्त्व। बल्कि उन्होंने जोर के साथ कहा कि भौतिक जगत और आत्म जगत की एकता पर ही विश्व एकता की स्थापना सम्भव है। यदि ये दोनों ऐसी वस्तु बने रहते हैं जो एक दूसरे से कभी मिल नहीं सकता हों तो उनका मिलन दुखदायी मिलन ही होगा और ऐसे मिलन का जितना शीघ्र विच्छेद कर दिया जाय, उसी में व्यक्ति का कल्याण है"।[४] परन्तु यह विच्छेद सत्य और ज्ञान के विपरीत है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह उपनिषदकारों का प्रधान वाक्य भी मिथ्या हो जाता है[५]।

जैसे लेनिन ने गणितज्ञों के बारे में कहा कि वे गणित की गगनचुम्बी उड़ान में उस धरातल को भूल जाते हैं जिस पर से वे उड़े थे; वैसे ही श्री अरविन्द ने कहा "आध्यात्मिक विकास की चोटियों पर यदि हम मानव धरातल को भूल जाय तो हम कभी भी सत्य को पकड़ नहीं सकेंगे[६]।"

आज यह स्पष्ट मालूम होता है कि न पदार्थ चेतना को छोड़ सकता है, न चेतना पदार्थ को। जैसे श्री सम्पूर्णानन्द जी का विश्व को चिद्विलास

---

४ "Otherwise the two must appear as irreconcilable opponents bound together in an unhappy wedlock and their divorce the one reasonable solution"

The Life Divine Vol. 1 P. 8

५ "It is therefore through the utmost possible unification of Spirit and Matter that we shall arrive at their reconciling truth" The Life Divine Vol 1 P 31

६ "However high we may climb, even though it be to the Non-Being itself, we climb ill if we forget our base"

The Life Divine Vol 1 P 45

में परिवर्तित कर देना (जीवन और दर्शन) अध्यात्मवाद को मान्य नहीं ^८^ वैसे ही चेतनाशून्य विशुद्ध भौतिक आधार को मार्क्स का दर्शन स्वीकार नहीं कर सकता।

परन्तु पदार्थ और चेतना ऐसे भिन्न प्रकार के हैं कि इनकी एकता पर पहुँचना साधारण काम नहीं। मानव ज्ञान के विकास की खाड़ियों ने ऐसी ऐतिहासिक आवश्यकताओं को जन्म दिया, जिनके कारण अध्यात्म वाद, सन्देहवाद और भौतिकवाद पैदा हुए। इन तीन धाराओं का अलग अलग काम करना भी पहले उतना ही जरूरी था जितना आज उनका मिलना। ज्ञान की अविकसित अवस्था में पदार्थ, जीवन और चेतना संयुक्त विश्व इतने रहस्यमय मालूम होते थे कि तरह तरह के सम्प्रदाय, जादू टोना एवं अन्ध विश्वासों का उदय होना स्वाभाविक हो गया। इसीलिये चेतना से अलग कर के ही पदार्थों के ज्ञान को फैलाया जा सकता था। फ्रांसीसी दार्शनिक डेकार्टे (१६३७) ने यह स्थापित कर आधुनिक विज्ञान की नींव डाली कि विश्व एक विस्तारित पदार्थ तत्त्व है और पूरे तौर पर यह गणित के आधार पर समझा जा सकता है। उसने कहा कि—"मुझे विस्तार और गति दे दो, मैं संसार की रचना कर दूंगा।"

सब गुणों से पदार्थ को खींच कर (abstract) उसके स्वतन्त्र अध्ययन का नतीजा यह हुआ कि बचपनों को छोड़ विज्ञान की प्रगति तेज रफ्तार

---

८ It is difficult to suppose that Mind, Life and Matter will be found to be anything else that one energy triply formulated
Shree Aurobindo The Life Divine Vol 1 P 17

में चल पड़ा। रसायन शास्त्र, पदार्थ विज्ञान, गणित सभी धरातल को छोड़ ज्ञान की उच्चतम चोटियों पर मँडराने लगे। परन्तु वे भूल गये कि वास्तविकता को छोड़ वे अव्यक्त-पृथक्करण के (abstraction) जगत में हैं। अव्यक्त-पृथक्करण अर्द्ध-सत्यों की ही सृष्टि कर सकता है। जिस चेतना को वे छोड़ आये थे वह कदम-कदम पर उनके प्रयत्नों पर व्यङ्ग करती हुई कह रही थी, मैं हूँ, मैं हूँ। उससे पिण्ड छुड़ाना संभव नहीं था। यदि इस भौतिक विश्व की व्याख्या मानस और चेतना के बिना की जाती है तो यह भी निश्चय है कि मानस और चेतना स्वयं अपनी दुनिया खड़ा कर भौतिक जगत के सर पर चढ़कर बैठेगी।

दूसरी ओर भौतिक विश्व को छोड़ कर ही मानस और चेतना की दुनिया का अन्वेषण सम्भव था। बौद्ध दर्शनकारों में शून्यवादी तो उस पल्ले सिरे पर चले गये, जहाँ कुछ रहता ही नहीं। रक्त और मांस, पदार्थ और वस्तु को छोड़ कर ही अन्तस्तल की झाँकी मिल सकती थी। लेकिन यह वे भूल गये कि ऐसा करना दूसरे सिरे का अव्यक्त पृथक्करण है (abstraction) उसके आधार पर जीवन का लक्ष्य निर्धारण सम्भव नहीं। इनके प्रयत्नों पर व्यङ्ग करते हुये श्री अरविन्द ने कहा है:—"इसलिये ये लोग इस नतीजे पर आये कि काल्पनिक असत्तावान जगत के, काल्पनिक असत्तावान बन्धन से, काल्पनिक असत्तावान आत्मा की मुक्ति ही महान लक्ष्य है, जिसे असत्तावान आत्मा को पूरा करना है।"[१]

[illegible] non-exis- [illegible] age in an [illegible] od which that non existent soul has to persue.

The Life Divine, Vol. I P. 47

इन दोनों धाराओं के कठोर कगारों को तोड़ कर सन्देहवादियों ने भी प्रयत्न या सहायता ही की थी, परन्तु ज्ञात और अज्ञात दो जगतों की सृष्टि कर ये भी द्वैत भावना में विश्व को ऊपर नहीं उठा सके।

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद अलग अलग चलकर ५००० वर्षों में ज्ञान के रत्नों का संचय कर फिर इकट्ठा होना चाहते हैं। यह एकता दोनों धाराओं के ज्ञानरत्नों के संग्रह में, प्राचीन एकता से कहीं ज्यादा ऊँची सतह पर होगी।

ऐसी एकता को मजबूत भित्ति पर स्थापित करना ही २०वीं सदी के उत्तरार्द्ध का महान कार्य है। इसकी भूमिका ऐंगेल्स ने पहले ही डाली थी जब उन्होंने प्रकृति को स्वयं प्रेरित (Self acting)[१०] और अज्ञात मानव-आवश्यकता से उत्प्रेरित माना था और कहा था—"मैटर गति के रूप में रहता है।"[११] श्री अरविन्द ने अध्यात्म की दृष्टि से भी ऐसा ही कहा है—'अन्तस्तत्व का एक रूप मैटर है'[१२] उन्होंने तो यहां तक कहा है कि—"जिस ईश्वर ने मिलाया है, एक किया है; क्यों उसे मनुष्य अलग करने पर तुला हुआ है।"[१३]

---

१० Engels admits the existence of a neccessity unknown to man" Materialism and Empiriocriticism P 129

११ "Matter lives in the form of Motion" Engels

१२ "Matter is a form of Spirit"
The Life Divine Voll II P, 453

१३ 'But what God combines and synthetises wherefore should man insist on divorcing"
The Life Divine Vol. I Page 50

आधुनिक दार्शनिक वैज्ञानिक श्री ह्वाईट हेड ने भी कहा है कि—'अपने चारो ओर जिस दुनिया को हम देखते हैं उसका मानसिक जगत से, साधारणतया हम जितना समझते हैं, उससे कहीं ज्यादा गहरा सम्बन्ध है।' [१४]

परन्तु यह भी स्पष्ट है कि अवतक पदार्थ और चेतना की एकता पूरे तौर पर स्थापित नहीं हो सकी है। इसी कारण कार्य-कारण की लड़ी को तोड़ चेतना कहा से और किस तरह से पैदा हो गई इसके उत्तर में जैसे फासिस्टवादी दर्शनकार वर्गसन ने तेजवाद (Vitalism) को स्थापित कर द्वैत की सृष्टि कर दी, वैसे ही आविर्भू—वाद (Theory of Emergence) की स्थापना करने वालों ने मार्क्स और लेनिन की वास्तविकता को छोड़ दिया। स्वयं अपनी प्रेरणा से विकसित होने वाला मैटर भौतिकवाद का आधार न रह कर ऐसे प्रयत्नों से इसका आधार एक रहस्य या निष्प्राण यन्त्र बन जाता है।

लेनिन वास्तविकता का साहस के साथ सामना करते थे, और उन्हें यह कबूल करने में कोई हिचक नहीं हुई कि मैटर का मौलिक बनावट में ही चेतना का मूल तत्त्व मिला हुआ रह सकता है। [१५] इसी कारण श्री अर-

१४ "The world which we see around us is involved in some more internate fashion, than is ordinarily supposed with the things that go in our mind" White head

१५ While in the foundation of the structure of matter one can only surmise the existence of a faculty akin to sensation Such for example is the supposition of the well known German scientist Ernst Haeckel the English Biologist Lloyd Morgan & others

Lenin Materialism and Empirio criticism P 21

विन्द के इस कथन में सत्यता है कि दार्शनिक मैटर का यह रूप साख्य के मूल पुरुष से मिलता हुआ है। विज्ञान की आधुनिक प्रगति भी उसी दिशा की ओर इशारा करती है। साइन्स ऑफ लाइफ में वेल्स, हक्सले और वेल्स लिखते हैं—"यह कहा जाता है कि ऐसे भी प्रमाण हैं कि कई प्राणि विशेषों (species) में एक प्रकार की अन्त प्रेरणा अथवा निहित लक्ष्य से, बड़े परिवर्तन हुये हैं, यद्यपि वे पूरी तौर पर परिस्थिति से सन्तुष्ट थे और उन परिस्थितिओं में कोई अन्तर भी नहीं आया।" [१६]

सच में हम पदार्थ और चेतना की उस सीमान्तक रेखा पर हैं जहाँ अभी प्रकाश नहीं पड़ पाया है। लेनिन ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया था—

"लोग पूछते हैं—'चेतना या तो मौलिक रूप से ही मैटर की बनावट में है या एकाएक किसी स्थान पर प्रकट हो जाता है।' ऐसे लोग भौतिकवाद से इस प्रश्न का जवाब चाहते हैं कि चेतना कहाँ और कब पैदा होती है। वे यह भूल जाते हैं कि किसी भी दार्शनिक प्रश्न का उत्तर तब तक नहीं मिलता जब तक विज्ञान का विकास उसके लायक आवश्यक प्रमाणों को इकट्ठा नहीं कर लेता'।[१७] लेनिन ने दूसरी जगह कहा है :

१६ "It is alleged that in certain number of cases of species, even though fairly well adapted to their conditions and without experiencing any change of conditions have by a virtue of a sort of inner desire and innate destiny of species gone through considerable evolutionary change" The Science of Life, By Wells, Huxly & Wells P. 279

१७ Mach continues 'Sensation must suddenly, arise somewhere in this structure (consisting of matter) or else

दिशा में जाने को तैयार नहीं हुआ।'[20]

इससे निराश होकर रहस्यवाद की ओर झुकने में कोई फायदा भी नहीं है। उपनिषदकारों के शब्द में यह अंतिम विरोध है, जिसके द्वारा हम अज्ञान की गुत्थी को सुलझाना चाहते हैं।[21]

यह तो अब निर्विवाद है कि मानस और अचेतन जड़ एक ही सत्य के अंग हैं। बर्ट्रेंड रसल के शब्दों में "मानस और मैटर का अन्तर काल्पनिक है"।[22]

लेनिन ने भी यही कहा था –"चित्त और मैटर के विरोध का महत्त्व केवल एक ही छोटे से क्षेत्र में है याने दोनों में प्रधान कौन है, गौण कौन?"[23]

विकासवाद की धारा हमें यही बताती है कि अचेतन (मूल चेतन युक्त) मैटर में चेतन (मैटर युक्त) हो सकता है, चेतन से अचेतन नहीं।

[20] ' Mankind returns from there with a more vehement impulse of inquiry or a more violent hung r for an imm ediate solution By that hunger mysticism profits and new religion arise to replace the old that have been des troyed or stripped of significance by a sceptism which itself could not satisfy because although its business was inquiry its was unwilling sufficiently to inquire '

The Life Divine Vol 1 P 4

[21] ' Upnishads beheld Sat and Asat not as distructive of each other but as the last antinomy through which we look up to the unknowable "

The Life Divine Vol 1 P 43

क्योंकि फिर वह विकास न होकर पीछे लौटना हो जायगा। इसलिये अभी तो हम यही मान सकते हैं कि मैटर ही प्रधान है। विकास की तरह प्रतिक्रिया (विकास का उलटा) भी विज्ञान द्वारा साबित हो जाय और यह भी प्रमाणित हो जाय कि चेतना मैटर को छोड़ कर रह सकती है, तो इन विचारों में भी परिवर्तन की आवश्यकता होगी। परन्तु, आज विज्ञान अपने विकास की जिस सीढ़ी पर है, हम यह मानने को बाध्य हैं कि मैटर प्रधान है, लेकिन वह मैटर जिसमें चेतना संयुक्त होने की शक्ति निहित है। किस तरह अचेतन मैटर चेतना संयुक्त होता है, यह प्रश्न आज भी वैसा ही अगेय है जैसा २००० वर्ष पहले था।

परन्तु मनुष्य तो आज जीवन की गुत्थियों का उत्तर चाहता है—व्यवहार के लिये, साधना के लिये। उसके अन्तर की व्यथा आज भी वैसी ही तीव्र है जैसी पहले थी।

श्री अरविन्द के शब्दों में:—

"यदि हम भौतिकवादी नतीजे को बहुत दूर खींचकर ले जाते हैं तो व्यक्ति और मानव जीवन में व्यर्थता और नगण्यता आ जाती है। फिर व्यक्ति के लिये दो ही रास्ता रह जाता है, या तो वह संसार से जो कुछ भी छीन-झपट सके लेकर अपने को सुखी बनावे अथवा अर्थहीन भावशक्ति के साथ समाज या व्यक्ति की सेवा करे। क्योंकि इसके अनुसार स्नायुविक भौतिकमनस्तत्व का क्षणिक समुच्चय ही व्यक्ति है और ऐसा ही समुदाय या समाज। भौतिक शक्तियों के कार्य्य कलाप एक अल्पकालिक जीवन का भ्रम और उससे ज्यादा—नैतिक आदर्शों का भाव पैदा करते हैं, जिससे हमें तृप्ति का भान होता है और हम कार्य में प्रवृत्त होते हैं। भौतिकवाद भ. एक तरह की माया की सृष्टि करता है: जो है भी और नहीं भी है। वह है, चूंकि हमें वह क्रिया में प्रवृत्त करता है; नहीं है

"यह धारणा, कि इस प्रश्न का निपटारा हो गया, गलत है। क्योंकि इस प्रश्न की छानबीन बराबर करनी होगी कि ऐसे मैटर, जो मालूम पड़ता है पूरे तौर पर चेतना-रहित है, उन मैटरों से जो समान तरह के परमाणु (या विद्युतरण) से बने हैं, परन्तु संवेदना युक्त है, क्या सम्बन्ध रखता है। भौतिकवाद इस उलझन को स्पष्ट रूप में रखता है और ऐसा कर इसे सुलझाने के प्रयत्न को प्रोत्साहन देता है'।[१=]

इसी प्रकार श्री अरविन्द ने भी स्वीकार किया —

"इस प्रश्न का निपटारा ऐसे तर्क और बहस से नहीं हो सके। जिनका आधार जीवन का साधारण सांसारिक अनुभव है। क्योंकि सांसारिक अनुभव पर आश्रित प्रमाणों में इतनी बड़ी दरार रह जाती है जो सभी बहस को अनिश्चित बना देती है। साधारणतया व्यक्ति के जीवन से असम्बद्ध विश्वचेतना से हमारा कोई निश्चित परिचय नहीं। दूसरे

have previously been present in the foundation Mach wants to blame Materialism for having unanswered the question whence sensation arises Does any other Philosophical stand point "solve" a problem before enough data for its solution has been collected ?'

Materialism and Empirio criticism P 21

१- "The impression that the problem has been solved is a false one, because there still remains to be investigated and reinvestigated how matter apparently entirely devoid of sensation is related to matter which though composed of the same atoms (or electrons) is yet endowed with a well defined faculty of sensation Materialism clearly formulates as yet unsolved problem and thereby stimulates the attempt to solve it"

Materialism & Empiriocriticism P 22

और हम यह भी निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि हमारी आत्मानुभूति शारीरिक यंत्र पर ही आश्रित है, यह न शारीरिक यंत्र को छोड़ कर रह सकती है न उससे परे जा सकता है। चेतना के क्षेत्र के विकास या ज्ञान के साधन में आशातीत प्रगति ही इस प्राचीन द्वन्द्व का निपटारा कर सकता है"१

ऐसी परिस्थिति ज्ञान की प्यास को और तेज करती है। श्री अरविन्द के शब्दों में "इसमें मानव जाति अशेष प्रश्नों की तीव्र प्रेरणा और उनके तुरत निपटारे की अतृप्त भूख को लेकर लौटती है। इस भूख से रहस्यवाद फायदा उठाता है और इस तरह उन पुराने सम्प्रदायों के स्थान पर, जो या तो खत्म हो चुके हैं अथवा जिनके महत्व को संशयवाद ने मिटा दिया है नये सम्प्रदाय खड़े होते हैं। संशयवाद स्वयं संतोष नहीं दे सकता, क्योंकि उसका काम था परीक्षा, जांच को जारी रखना, परन्तु यह बहुत दूर तक इस

...tic, arg-
...ce, for
...ce wh
...rmally,
...or su-
...individual
body, nor, on the other hand, any firm limit of experie-
nce which would justify us in supposing that our sub
jective self really depends upon the physical frame and
can neither survive it nor enlarge itself beyond the indi-
vidual body Only by an exten...
consciousness or ...
of Knowledge can ... be decided"
The Life Divine Vol I Page 25

"दूसरी ओर यदि हम दृश्यमान विश्व के मिथ्यापन को ज्यादा खींचते हैं तो, दूसरे रास्ते से वैसे ही बल्कि उससे भी ज्यादा तीव्र मायावाद पर पहुँच जाते है। व्यक्ति काल्पनिक बन जाता है और मानव-जीवन अर्थहीन। अस्त, सम्बन्ध-हीन, अशरीरी तत्त्व में लौट जाना ही ऐसे अर्थहीन जीवन की गुत्थियों से छुटकारे का तर्क-संगत मार्ग बच रहता है"।[२४]

जीवन के इस महान प्रश्न का उत्तर कौन दे सकता है? ऋग्वेद के शब्दों में यही कह सकते हैं कि—

"को अद्धा वेद क इह अजानत"

24 "If we push the materialist conclusion far enough we arrive at an insignificance and unreality in the life of the individual and the race which leaves us, logically, the option between either a feverish effort of the individual to snatch what he may from transient existence and objectless service of the race and the individual, knowing well that the latter is a transient fiction of the nervous mentality and the former only a little more longlived collective form of the same regular nervous spasm of the Matter We work or enjoy under the impulsion of a material energy which deceives us with the brief delusion of life or with the nobler delusion of an ethical aim and a mental consummation. Materialism like spiritual monism arrives at a Maya that is and yet is not,—is, for it is present and compelling, is not, for it is phenomenal and transitory in its works. At the other end, if we stress too much the unreality of the objective world, we arrive by a different road at similar but still more trenchant conclusions—the fictitious character of individual ego, the unreality and purposelessness of human existence, the return into the Non-Being or the relationless Absolute as the sole, rational escape from the meaningless tangle of phenomenal life." The Life Divine Vol. I Page 25

परिशिष्ट

कार्ल मार्क्स का संक्षिप्त परिचय

जन्म—५ मई १८१८ को जर्मनी के ट्रीव्स शहर में हुआ। पिता-माता यहूदी थे। पिता का पेशा वकालत का था। मार्क्स जब ६ वर्ष के थे, पिता प्रोटेस्टैन्ट सम्प्रदाय के ईसाई हो गये।

शिक्षा—१८३५ में बौन विश्व विद्यालय में न्याय सिद्धान्त (जूरिसप्रूडेन्स) का अध्ययन किया और १८३६ में बर्लिन में इतिहास और दर्शन का १८४१ में जेना विश्व विद्यालय से, एपिक्योर के दर्शन पर निबन्ध लिखकर डाक्टरी की उपाधि प्राप्त की।

कार्यक्षेत्र—उग्र विचारों के कारण विश्व विद्यालय में अध्यापक का स्थान नहीं मिला।

१८४२ के अक्टूबर में राइनिश जाइटुग नाम क पत्र के सम्पादक हुए। १८४३ के मार्च में यह पत्र सरकार द्वारा बन्द कर दिया गया।

वैवाह—१८४३ म जैनी फानवस्टफालन स शादी हुई। यह बचपन की संगिनी और रईश-खानदान की लड़की थी।

क्रांतिकारी—१८४३ में पेरिस आये–

१८४४ में पेरिस में एंगेल्स और प्राउढन से मिले

१८४५ में जर्मन सरकार के दबाव पर फ्रांस से निर्वासित होक

ब्रुसेल्स आये।

१८४७ में कम्यूनिस्ट-लीग नाम का गुप्त संस्था के मार्क्स औ

एंगेल्स सदस्य बने।

१८४८ फर्वरी, कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो प्रकाशित हुई। १८४८ क

क्रांति के बाद मार्च में जर्मनी लौट गये और १८४८–४९ त

'न्यू रेनिश गजट' के प्रधान संपादक रहे।

१८४९ मई, जर्मनी से निर्वासित, जून, पेरिस से निर्वासित। पेरि

से भागकर वह लंदन आये और जीवन के अन्तिम दिनों तक वहीं रहे

१८६४ सितम्बर—प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ की स्थापना

१८६७ कैपिटल का (प्रथम-भाग) प्रकाशित हुआ।

१८७२ में अंतर्राष्ट्रीय संघ का दफ्तर न्यू-यार्क चला गया।

मृत्यु—१८८१ दिसम्बर—स्त्री का मृत्यु

१८८३-१४ मार्च—मार्क्स की मृत्यु

श्री सुदर्शन प्रेस, दरभंगा ... ८८—२४-५-५२—४० ना० ११९६